824
शर्मा।मुं।वै

वैदिक-निबन्धावली

डॉ० मुंशीराम शर्मा





चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

६१



वैदिक-निबन्धावली

लेखकः

डॉ० मुंशीराम शर्मा

एम० ए०, पी-यच० डी०, डी० लिट०

संचालक, वैदिकशोधसंस्थान,

डी० ए० वी० कालेज, कानपुर,



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२ वि०

मूल्य : ४-००



Rs. 307/-

824
शर्मा / मुं / वै

© The Chowkhamba VidyaBhawan,
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
1963

phone : 3076



THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

61

****

VEDIC NIBANDHĀWALĪ

(ESSAYS ON VEDA AND VEDIC CONCEPTS)

BY

Dr. MUNSHĪ RĀM SHARMĀ M. A., Ph. D., D. Litt.

Director, Vedic Research Institute,

D. A. V. College, Kanpur.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1963

समर्पण

विद्यावयोवृद्ध

वेदमूर्ति

आचार्य-प्रवर

पं० श्रीपाद दामोदर भट्ट सातवलेकर

के

कर-कमलों

में

सादर

समर्पित

निवेदन

वेद-पाठ जहाँ मंत्रगत शब्दों से परिचय कराता है, वहाँ चिन्तन के क्षण मंत्रगत भाव को भी स्पष्ट करते रहते हैं। इन क्षणों में मानव बाह्य सम्पर्कों से विरत तथा अपने ही अन्दर निरत हो जाता है। कभी-कभी एकाग्रता सान्द्ररूप ग्रहण कर लेती है। उस समय केन्द्रस्थ हो जाने से जो प्रकाश सामने आता है उसमें तर्क और ऊहा का सम्बन्ध नहीं रहता। यह प्रकाश अन्दर से आता है। इस प्रकाश के परिप्रेक्ष्य में जो निबंध लिखे जाते हैं, वे वाणी की असमर्थता के कारण प्रकाश से कुछ दूर हट जाते हैं। फिर भी प्रकाश का पर्याप्त अंश उनमें सन्निहित रहता है। 'प्रथमजा' में कुछ ऐसे ही विचार-प्रधान निबंध इसके पूर्व प्रकाशित किये गये थे। पुरुष-सूक्त, अघमर्षण, चार प्रकार की सृष्टि शीर्षक निबंधों में जो विचार व्यक्त हुए हैं, वे इसी अन्तःप्रकाश के व्यञ्जन-प्रयत्न के परिणाम हैं। 'संध्याचिन्तन' के निबन्ध भी इसी कोटि के हैं। 'प्रथमजा' सं० २०१० में प्रकाशित हुई थी, 'संध्या चिन्तन' सं० २०१५ में।

वैदिक निबंधावलि इसी प्रकार के निबंधों का तीसरा संग्रह है। इसमें २५ निबंध हैं। इन्हें पढ़कर पाठक वेद की स्वल्प झाँकी तो प्राप्त कर ही सकेंगे। सृष्टि के आदिकालीन साहित्य में प्रवेश करने से जो तथ्य सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है, वह है जगत, जीवन और ब्रह्म के

सम्बन्ध में वेदों का परिपूर्ण एवं क्रमबद्ध विवेचन। यह स्थिति इस युग के वैज्ञानिकों को अथवा विकासवादियों को भ्रम में डाल सकती है, परन्तु आर्यों की विश्वासी बुद्धि इसमें वितर्क नहीं करती।

मानव का बौद्धिक उन्नयन और अपनयन आवागमन के कालचक्र से प्रभावित होता रहता है; परन्तु सिद्ध पुरुष प्रभु के सम्पर्क में रहकर ह्रास-ह्रान (विनाश) को अनुभव नहीं करते। परम प्रभु ऐसे ही सिद्धों की वाणी को साधन बनाकर मानव जाति को जो ज्ञान प्रदान किया करते हैं, वह व्यतिक्रम, दुष्क्रम अथवा उच्चावचता के संश्लेष से शून्य होता है। वेद मंत्रों में इसीलिए जो विचार अथवा भाव की राशि सन्निहित है, वह अपने में परिपूर्ण है। जो जितना ही अधिक अन्तः प्रकाश-भूमियों में प्रवेश करेगा, उतना ही अधिक वह इस सत्य के निकट पहुँचेगा।

ऋग्वेद ६-९-३ के अनुसार ज्ञान का ताना और कर्म का बाना जगत और जीवन दोनों क्षेत्रों के वस्त्रों का वयन करता रहता है। एक से दर्शन तो दूसरे से आचरण की पुष्टि होती है, अथवा एक से संचालन तो दूसरे से रक्षण की क्रिया सम्पादित होती है। बीच-बीच में जब कभी हिंसा-प्रधान, स्वधामात्रजीवी, धर्मातिक्रम अथवा घृणित पथ के अवलम्बी इस धागे को तोड़ने लगते हैं, तब वही सर्व समर्थ भगवान अपनी किसी विभूति द्वारा इसे संयुक्त किया करते हैं, और यह वस्त्र-क्षेत्र इसी प्रकार अपने सम्बद्ध क्रम को बनाये हुए निरन्तर अग्रसर होता रहता है।

वेदों का अध्ययन सत्संग का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। इसमें हम देववाणी के निकट सम्पर्क में आते हैं। पौरुषेय वाणी सदोष होती है, अपौरुषेय निर्दोष। एक मलीमस है तो दूसरी दिव्य। वरण तो

दिव्यता का ही करना है। हम पार्थिव प्राणी अवश्य हैं, पर पृथ्वी पर बैठकर अपनी आँखें तो द्यौलोक की ओर ही लगानी हैं, अन्यथा मानवता का परिष्कार कैसे होगा ? वेद का अध्ययन हमें इसी द्यौलोक की दिव्यता की ओर ले जाता है।

मंत्रों के अर्थ तीन प्रकार के हैं, ऐसा हम परम्परा से सुनते आए हैं। एक अर्थ स्थूल है, भौतिकतापरक है; दूसरा सूक्ष्म है, आधिदैविक है और तीसरा पर अर्थात् आध्यात्मिक है। ज्ञान में शक्ति ही नहीं, दिव्यता भी है। वेद-मंत्रों का ज्ञान हमें स्थूल, सूक्ष्म तथा पर तीन शक्तियों से समन्वित कर दिव्यता से ओतप्रोत कर सकता है।

निबन्ध किसी भाव या विचार की क्रमबद्ध कल्पना अर्थात् रचना है। इसमें व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य का प्रधानता शैली तथा सामग्री—दोनों क्षेत्रों में रहती है। वैदिक विद्वानों के अनुसार यजुर्वेद में जो गद्यात्मक भाग है, उसमें विभिन्न विषयों का समावेश है। एक-एक विषय से सम्बद्ध गद्य-भाग को आधुनिक निबन्ध का पूर्व रूप माना जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी निबन्ध का यह रूप देखा जा सकता है। बीच-बीच में जो कहीं-कहीं श्लोक आ जाते हैं, वे वैसे ही हैं जैसे आजकल के निबन्धकार अपने कथन के समर्थन में श्लोक या छन्दादि उद्धृत कर देते हैं। माण्डूक्य उपनिषद का ढाँचा एक अतीव सुसंग्रथित सूत्रात्मक निबन्ध का ढाँचा है। प्रश्नोपनिषद के छः प्रश्नोत्तर पृथक्-पृथक् रूप से छः निबन्ध हैं और यदि उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया जाय, तो वे एक ही विषय के छः प्रकरण जान पड़ेंगे। दोनों उपनिषदें गद्य में हैं। अन्य गद्यात्मक उपनिषदों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संग्रह के निबंध कुछ तो वेद का सामान्य परिचय कराने वाले हैं, कुछ वेद मंत्रों की व्याख्या से सम्बद्ध हैं और कुछ वैदिक परम्परा के विकसित सूत्रों को व्यक्त करते हैं। आशा है इनसे कुछ जिज्ञासुओं का समाधान, कुछ वेदप्रेमियों का प्रीणन और कुछ विद्वानों का सम्मान हो सकेगा।

मुंशीराम शर्मा

विषय-सूची



वैदिक-निबन्धावली

जो उसका

परम प्रभु निखिल जगत के स्वामी हैं। अर्य का अर्थ भी स्वामी है। अर्य का पुत्र आर्य कहलाता है। आर्य ईश्वर पुत्र है। वेद के शब्दों में वह अमृतपुत्र है। पुत्र पिता की ही आत्मा है। अतः जो आर्य है, वह उसीका है।

पिता महान् है, तो पुत्र को भी महान् होना चाहिये। महत्ता में उदारता है जो विश्वभर को बन्धुत्व में बाँध लेती है। प्रभु के सभी पुत्र बन्धु हैं। फिर कोई किसी से क्यों द्वेष करे? वेद में अनेक वार द्वेष पर विजय प्राप्त करने की प्रार्थना आती है। हैं तो सभी उसके ही, पर जो द्वेष से परे हो गया है, वह वस्तुतः उसका है, सच्चे अर्थों में उसका है।

यह महत्त्वमय हिमवान, यह रस का सतत साथी समुद्र, यह तेजपुंज भानु, यह सुधास्रावी शीतांशु, यह पवमान पवन, यह अग्रणी अग्नि, यह प्रथित पृथ्वी, बाहु के समान फैली हुई ये दिशाएँ और प्रदिशाएँ, सभी उस देवाधिदेव की ध्वजायें, कीर्ति-प्रसारिका पताकायें हैं। जो प्रभु का है, वह इन सब में उसी के रूप का दर्शन करता है। जगत की एक-एक प्रतिमा में उसे उसी का प्रतिमान-प्रतिबिम्ब-प्रतीत होता है। रूप-रूप में वही तद्रूप हो रहा है।

चेतन मूर्तियों में उसी परम-चेतन का प्रकाश है। वासवी शक्तियों में उसी स्ववान् की वसुवत्ता, प्राणवत्ता एवं शक्ति कार्य कर रही है। तेजस्वियों में उसी का तेज है। ज्योतिष्मानों में उसी की ज्योति है। दानियों के पास उसी का दिया दान है। वीरों के पास उसी का वरणीय वीर्य है। रक्षकों के पास उसी की दी हुई रक्षा-शक्ति है।

ज्ञानियों का ज्ञान, योगियों का योग, प्रेमियों का प्रेम, सुन्दर का सौन्दर्य, भक्तों की भक्ति, देवों का देवत्व, ऐश्वर्यवालों का ऐश्वर्य, पुण्यात्माओं का पुण्य, सब कुछ आदि और अन्त में उसी का है। जो उसका है, वह इन सब में उसी की झलक देखता है।

जो उसका है, वह स्वरूपवान है, वीर्यवान है, संयमी और तपस्वी है। मधुमक्षिका जैसे मधु को, मछली जैसे जल को, भ्रमर जैसे कमल को, पतंग जैसे दीप को प्यार करता है, वैसे ही जो उसका है, वह उसको प्यार करता है। विश्व में केवल वही उसका है, और कोई नहीं।

जो उसका है, वह उसके पद-चिह्नों पर चलता है, उसीकी सेवा करता है और उसी के समीप बैठता है। उसके कर्म में, ज्ञान में, भाव में प्रभु निवास करने लगते हैं। उसकी हृदयगुहा में देव विश्राम पाते हैं। कर्म और ज्ञान का सामंजस्य, भक्ति और योगानुष्ठान का समन्वय, पुरुषार्थ और प्रारब्ध का समेकन, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सहयोग, ऐहिकता और आमुष्मिकता का सामरस्य ऐसे जीवन की विशिष्टता बन जाते हैं।

जो उसका है, वह उसके सौमनस में रहता है। वह उसी के लिये सोम का सवन करता है, हृदय की सान पर तीव्र किये गये मंत्रों का पाठ करता है, चिरकाल तक ज्योति के दर्शन करते रहना और शर्म, वर्म तथा शान्ति के क्षेत्र में विचरण करना उसका स्वभाव बन जाता है। वह दूसरों के लिये तुजता हुआ भी अन्दर से पुष्ट, तुष्ट एवं प्रसन्न रहता है।

जो उसका है, देव उसकी मैत्री चाहते हैं, ज्ञानी उसकी स्तुति एवं त्यागी उसकी प्रशंसा करते हैं। उसके नेत्र पवित्र, मन शिव संकल्पमय, हृदय सद्भाव-भरित और बुद्धि सत्कर्मों में प्रेरित रहती है, वह कल्याण-भाजन सब की कल्याण-कामना करता है। उसे छिद्र नहीं

छद दिखाई देते हैं, खंड नहीं अखंड के दर्शन होते हैं, काल नहीं कला प्रतीत होती है।

जो उसका है, वह यजत्र[1] है, अहिंसक है, शुचि है, सुमति है और देवों के निरादर से दूर है। वह सोमपायी है। दस्यु उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। वह शत्रुतूर्य है। आन्तरिक क्षेत्र में विहार करनेवाले काम-क्रोधादि रिपु उसके आगे अपने पैर नहीं फैला पाते। वह प्रदीप्त रहता है जिससे पापों का क्षय और पुण्यों का उत्कर्ष होता रहता है।

जो उसका है, वह सरस अंगिरस है। मरु की तप्त बालुका मेघों की मधुर फुहार पड़ते ही जैसे शीतल हो जाती है, अनुर्वर भूमि रस-वर्षा से उर्वर, हरीतिमारंजित तथा शस्य-सम्पन्न बन जाती है, उखड़े हुए वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार अंगिरसों के पदार्पण से भुवन पवित्र बनते हैं, कठोर हृदयों में कोमलता का संचार होता है, हिंसक अहिंसक में बदल जाता है और द्वेष का स्थान प्रेम ले लेता है।

जो उसका है, वह नम्र है अनागस[2] है, वय्य[3] है, वांछनीय और प्राप्तव्य है। उसके लिये यह महती पृथिवी कामधेनु है। विक्षुब्ध समुद्र उसके लिये गौ के खुर के समान संतरणीय और दुर्धर से दुर्धर कार्यभार वहनीय बन जाता है। वह धी से—कर्म और ज्ञान से उसका है, भाव से उसका है, अतः वह आप्त है। उसी का कथन माननीय है। वह सबका है, सब उसे प्रिय हैं और सबको वह प्रिय है।



१. यजत्र = यज्ञकर्ता, त्यागी।

२. अनागस = निष्पाप। ३. वय्य = ग्राह्य, गम्य।

ईश्वरीय ज्ञान

मानव चार अवस्थाओं का अनुभव कभी न कभी किया करता है। जाग्रत अवस्था में वह शरीर तथा इन्द्रिय व्यापारों में प्रमुखतः लीन रहता है। स्वप्न अवस्था में उसका मन देखे तथा सुने हुए अथवा स्पर्श-स्वाद-गंध आदि के सूक्ष्म संस्पर्शों में रमण करने लगता है। सुषुप्ति में बाह्य तथा अन्तः दोनों ही करण सो जाते हैं। वे किसी भी प्रकार कार्य नहीं करते। इन तीनों से ऊपर चौथी तुरीयावस्था है जिसे विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक चेतना या आत्म-जागरण की अवस्था कहा जा सकता है, जीवात्मा अपने विकास-पथ के अन्त में इस अवस्था का अनुभव कर पाता है

सृष्टि के प्रारम्भ में जो अमैथुनी सृष्टि होती है, उसमें कुछ ऐसे पुरुष उत्पन्न होते हैं जिन्होंने पूर्व कल्प में सतत अभ्यास और वैराग्य की साधना द्वारा इस आध्यात्मिक चेतना को उपलब्ध कर लिया था। ये दिव्यात्मायें देवाधिदेव परमात्मा के निकट संपर्क में रहकर उसका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसके व्यापक नियमों का दर्शन करती हैं और आत्मा को पवित्रता की ओर ले जाने वाले धर्म के रहस्य को अवगत करती हैं। ईश्वरीय ज्ञान इसी रहस्य, इसी दर्शन और इसी साक्षात् ज्ञान का नाम है।

जैसे अग्नि में पड़ी हुई आर्द्र लकड़ी से धुएँ के बादल निकलते हैं, उसी प्रकार प्रकाशपुञ्ज प्रभु का प्रत्यक्ष करने वाले पुण्यपुरुषों से श्वास की भाँति वेद निकलते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि ऋषि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद और अंगिरा से अथर्ववेद

प्रकट हुआ। इन चारों से सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को वेद प्राप्त हुए। ब्रह्मा ने मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु आदि को वेद पढ़ाये।

पुरुष सूक्त के अनुसार देवों ने यज्ञ पुरुष का ध्यान करते हुए मानसिक यज्ञ किया। इसी सर्वहुत यज्ञ से चारों वेद प्रकट हुए। चारों वेदों का मूल ओ३म् अक्षर है जिसमें समस्त भाषाओं तथा विचारों के बीज निहित हैं। इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान प्रकृति-पूजा तथा यज्ञ अनुष्ठानों के पश्चात् विकसित हुए ज्ञान का नाम नहीं है, जैसा कतिपय पाश्चात्य आलोचक कहते हैं, प्रत्युत यह परिपूर्ण विकसित वह ज्ञानराशि है जो सृष्टि के प्रारम्भ में ही ऋषियों को प्रभु से प्राप्त हुई। यह सृष्टि के मध्याह्नकाल में किसी देवदूत द्वारा प्रकट किया हुआ ज्ञान नहीं है, जो कुछ थोड़े से भक्तों के लिये ही आया हो, या दैवी प्रेरणा से बीच में उत्पन्न हो गया हो। ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में आता है और वह सभी देशों तथा कालों के लिये उपयुक्त होता है।

प्रभु अनन्त है; अतः ज्ञान भी अनन्त है। पुस्तकों में बन्द ज्ञान की सीमा हो सकती है, पर ईश्वरीय ज्ञान आद्यन्तहीन है। "अनन्ताः वै वेदाः' का भाव यही है। सृष्टि के आविर्भाव के समय वेद आविर्भूत होते हैं और उसके तिरोहित होने पर वे भी अपने आश्रय रूप प्रभु में विलीन हो जाते हैं। वेद की तिथि निश्चित करना मानों सृष्टि की तिथि को निश्चित करना है।

वेद सबसे पहले समय के आध्यात्मिक अनुभवों के आध्यात्मिक संग्रह भी कहे जा सकते हैं। अन्य संग्रह बाइबिल, कुरान, धम्मपिटक आदि बहुत परवर्ती काल के हैं। सब से पहले समय के होते हुए भी वे विचार-भवन की प्राथमिक नहीं प्रत्युत अंतिम सीढ़ी हैं। उनसे बढ़ कर विकसित विचार-प्रणाली अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

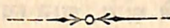
जो अध्यात्म निधि उनमें सुरक्षित है उसका केवल अल्पांश ही अन्यत्र उपलब्ध होता है। तत्व-ज्ञान का जैसा स्पष्ट और सांगोपांग विवरण वेदों में है वैसा तो कहीं भी नहीं है। अंतिम सत्य की जो पकड़ वहाँ है वह अन्यत्र नहीं। भारत के समस्त सन्त एवं दार्शनिक आज तक वेदों से ही प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं।

वेद में सभी व्यक्तियों के स्तर के अनुकूल सामग्री विद्यमान है। दार्शनिक, कर्मकाण्डी एवं भक्त सभी को वहाँ अपने-अपने क्षेत्र के तथ्य प्राप्त होते हैं। उसमें शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिकता के सूत्र भरे पड़े हैं।

ज्ञान अपने मूल रूप में अव्याकृत है। वेद-मंत्रों में उसका व्याकृत रूप है। मन्त्रों की वाणी वैखरी है। उसका मूल रूप परा, बुद्धि से भी परे, है। वाणी का परा रूप और ज्ञान का मूलरूप परस्पर सम्बद्ध हैं। मुण्डक उपनिषद् ने प्रभु के जिन, पर और अवर, दो रूपों का उल्लेख किया है और विद्या के जो, परा तथा अपरा, दो भेद किए हैं और वेदों को अपरा विद्या के अन्तर्गत स्थान दिया है अथवा गीता ने 'त्रैगुण्य विषया वेदाः' कह कर वेदों के प्रति जो थोड़े से हीन भाव की अभिव्यक्ति की है, उसका अर्थ तभी स्पष्ट होगा जब हम ज्ञान और वाणी के मूल तथा शाखा-पत्रों वाले रूपों को हृदयंगम कर लेंगे। श्रुति भगवती स्वयं "यस्तन्नवेद किमृचाकरिष्यति" कहकर इस तथ्यका उद्घाटन कर रही है। ऋचाओं का मूलरूप परम अक्षर व्योम में निहित है। मंत्रों में उनका स्थूल अथवा पत्रों वाला रूप है। जिसने मूलको नहीं जाना वह पत्तों को पकड़ कर क्या करेगा? जिसने परम व्योम अक्षर ब्रह्म का साक्षात् नहीं किया, वह ऋचाएँ पढ़ कर क्या कर लेगा? वेद के अतिरिक्त विश्वका अन्य कोई भी धार्मिक ग्रन्थ इतने स्पष्ट शब्दों में अपने अध्ययन को गौण रूप प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं रखता। जो समर्थ है,

साक्षात् की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है, वही ऐसी बलवती वाणी में सत्य की घोषणा कर सकता है।

बौद्ध, जैन तथा चार्वाकों को छोड़कर शेष समस्त भारतीय सम्प्रदायों ने एक स्वर से वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना है। चार्वाक की दृष्टि प्रत्यक्ष अथवा भोगवाद पर है, परन्तु जैन तथा बौद्ध परलोक को स्वीकार करते हैं एवं निर्वाण अथवा मोक्ष में आस्था रखते हैं जिसके लिए पवित्र जीवन की प्राप्ति परम आवश्यक मानी गई है। वेद मुक्त कण्ठ से प्रभु-प्राप्ति के लिए पवित्रता के सम्पादन का आदेश देता है। अतः परिणाम की दृष्टि से जैन और बौद्ध वैदिकों के निकट ही हैं। उन्होंने जहाँ वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया है, वहाँ उनकी दृष्टि वेद के उस याज्ञिक कर्मकाण्ड की ओर रही है जो तत्कालीन रूप में हिंसा-प्रधान हो उठा था और अपने मूल रूप से एकदम विकृत हो चुका था। यज्ञ के इस रूप की निन्दा स्वयं वैदिकों ने आगे चलकर की और द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ को श्रेयस्कर घोषित किया।



वेद-मर्यादा

धर्म के जिज्ञासुओं के लिये परम प्रमाण वेद ही माना गया है। अन्य प्रमाण मानव के अन्य व्यापारों में सहायक हो सकते हैं, परन्तु आत्मिक उत्थान के लिये अपौरुषेय वेद ही एक मात्र साधन है, इसका समर्थन अभी तक की समस्त भारतीय आर्ष परम्परा करती रही है। जिन दर्शनों को बाल की खाल तक निकालने में अतीव कुशल माना गया है, जो बुद्धि के अतीव सूक्ष्म स्तर का स्पर्श करते हैं, वे भी आध्यात्मिक विषयों में "इति आम्नायः", "इति श्रुतिः" आदि कहकर वेद के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। स्मृतिकार भी "वेदोऽखिलो धर्मसूलम्" तथा "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" शब्दों द्वारा वेद के गौरव को स्वीकार करते हैं।

वेद की यह मर्यादा आर्य जाति में उसके अपौरुषेय होने के कारण प्रतिष्ठित हुई। वेद का अर्थ ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के प्रथम तत्त्व आकाश के उत्पन्न होने के साथ ही आविर्भूत हुआ। प्रलय के समय यह तिरोहित मात्र था, अपने स्रोत, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में लीन था। जैसे प्रत्येक वस्तु अपने स्रोत से निकलती है, उसी प्रकार ज्ञान का उद्भव भी ज्ञान के स्रोत परमात्मा से ही होता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का निम्नांकित अन्तःसाक्ष्य भी इस तथ्य का उद्घाटन करता है:—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

उस सर्वहुत यज्ञ, पूज्य प्रभु से ऋक्, साम, अथर्व [छन्द] तथा यजुः उत्पन्न हुए। परवर्त्ती ब्राह्मण ग्रन्थ भी जो यज्ञों के विस्तृत विवरणों से ओतप्रोत हैं, इसी मत के मानने वाले हैं; यथा—

त्रयी वै विद्याः ऋचो यजूंषि सामानि। इयमेवऽर्चः। अस्यां हि अर्चति यो अर्चति-सः। वागेवऽर्चः। वाचा हि अर्चति योऽर्चति सः। अन्तरिक्षमेव यजूंषि। द्यौः सामानि। सैषा त्रयी विद्या सौम्ये अध्वरे प्रयुज्यते॥ शतपथ ४।५।९।१

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्…स तपोऽतप्यत, तस्मात्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः स इमान् त्रीन वेदान् अभितताप। तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रीणि शुक्राणि अजायन्त। भूः इति ऋग्वेदात् भुवःइति यजुर्वेदात् स्वः इति सामवेदात्।

शतपथ ११-४-१-३

स [प्रजापतिः] चतुर्होत्राऽतप्यत। सोऽताम्यत्। स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्। अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूꣳषि। स द्वितीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षमसृजत्। चातुर्मास्यानि सामानि। स तृतीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत्। अग्निष्टोममुक्थ्यमतिरात्रमृचः। एता वै व्याहृतयः। इमे लोकाः। इमान् खलु वै लोकान् अनु प्रजाः पशवः छन्दांसि प्रजायन्ते। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।४

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।

ऋक्० १०।७१।३

ऋचामग्निर्दैवतम्। तदेव ज्योतिः। गायत्रं छन्दः। पृथिवी स्थानम्। अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते। यजुषां वायुर्दैवतम्। तदेव ज्योतिः। त्रैष्टुभं छन्दः। अन्तरिक्षं स्थानम्। इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते। साम्नामादित्यो दैवतम्। तदेव ज्योतिः। जागतं छन्दः। द्यौः स्थानम्।

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि। इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते । अथर्वणां चन्द्रमा दैवतम् । तदेव ज्योतिः । सर्वाणि छन्दांसि । आपः स्थानम् । शन्नो देवीरभिष्टये । इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते........ ।

गोपथब्राह्मण १, २९

तीन ही विद्यायें हैं, ऋक्, यजु और साम । यह भूमि ही ऋक् है, क्योंकि यहीं पर अर्चा की जाती है । अन्तरिक्ष यजु है । द्यौ साम है । यह त्रयी विद्या सौम्य, हिंसारहित यज्ञ में प्रयुक्त होती है ।

प्रथम एक प्रजापति था। उसने तप तपा । उसके तप तपने से तीन देवों की सृष्टि हुई। अग्नि, वायु और आदित्य । उन तीनों ने तप तपा । उनके तप तपने से तीन वेदों की सृष्टि हुई । अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, आदित्य से सामवेद ।

उस प्रजापति ने चातुर्होत्र तप किया । इस तप से वह लाल हो गया । उसके मुख से "भूः" उच्चरित हुआ । उसने भूमि को रचा । अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास यजु हैं । उसने दूसरी बार तप किया । वह लाल हुआ । उसने "भुवः" ऐसा उच्चारण किया । उसने अन्तरिक्ष को रचा । चातुर्मास्य साम हैं । उसने तीसरी बार तप किया । वह लाल हुआ । उसने "सुवः" [स्वः] ऐसा उच्चारण किया । उसने द्यौ को रचा । अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र ऋक् हैं । यही व्याहृतियाँ हैं । ये लोक हैं । निश्चित रूप से इन्हीं लोकों के पीछे प्रजा, पशु, छन्द उत्पन्न होते हैं ।···तैत्तिरीय ।

यज्ञ के द्वारा वाणी के मार्ग को, उसके मूल स्थान को खोजा । उस वाणी को ऋषियों में प्रविष्ट हुआ पाया । [जहाँ से ऋषित्व, दर्शनत्व प्रारम्भ होता है, वहीं से वाणी का भी प्रारम्भ है । परम ऋषि परमात्मा है, वही वाणी का स्रोत है । ऋतम्भरा प्रज्ञा से वाणी

फूटकर बाहर प्रकट होती है। अतः यह अभिव्यक्त वाणी प्रज्ञा-सम्पन्न द्रष्टा ऋषियों में ही प्रविष्ट हुई पाई जाती है।]...ऐतरेय।

ऋचाओं का देवता अग्नि है। वही ज्योति है। [उसका] गायत्री छन्द है। पृथिवी स्थान है। "अग्निमीडे पुरोहितं" मंत्र से प्रारम्भ करके ऋग्वेद का अध्ययन किया जाता है। यजुओं का देवता वायु है। वही ज्योति है। त्रिष्टुप् छन्द है। अन्तरिक्ष स्थान है। "इषे त्वोर्जे त्वा" आदि मंत्र से प्रारम्भ करके यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है। सामों का आदित्य देवता है, वही ज्योति है, जगती छन्द है और द्यौ स्थान है। "अग्न आयाहि" आदि मंत्र से प्रारम्भ करके सामवेद का अध्ययन किया जाता है। अथर्वों का चन्द्रमा देवता है, वही ज्योति है, उसके सब छन्द हैं और आप [जल] स्थान है। "शन्नो देवीरभिष्टये" आदि मंत्र से प्रारम्भ करके अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा) का अध्ययन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण ६।५।२ के १३, १४ और १५ पदों में भी छन्दों और लोकों का यही सम्बन्ध प्रदर्शित हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वेदों के साथ जिन तत्त्वों और पदार्थों का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह गोपथ ब्राह्मण में वर्णित सम्बन्ध से भिन्न है। दोनों के सम्बन्धों को निम्नांकित सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

व्याहृति	लोक	यज्ञविधान	वेद
भूः	भूमि	अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास	यजुर्वेद
भुवः	अन्तरिक्ष	चातुर्मास्य	सामवेद
स्वः	द्यौ	अग्निष्टोम उक्थ्य अतिरात्र	ऋग्वेद

गोपथ ब्राह्मण

देवता	ज्योति	छन्द	स्थान	वेद
अग्नि	अग्नि	गायत्री	पृथ्वी	ऋग्वेद
वायु	वायु	त्रिष्टुप्	अन्तरिक्ष	यजुर्वेद
आदित्य	आदित्य	जगती	द्यौ	सामवेद
चंद्रमा	चंद्रमा	समस्त छन्द	आपः (जल)	अथर्ववेद

गोपथ ब्राह्मण का क्रम शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित क्रम से मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वह क्रम भिन्न है। यास्क ने निरुक्त में देव-ज्योतिक्रम के अन्तर्गत अग्नि का पृथ्वी से, विद्युत् का अन्तरिक्ष से और आदित्य का द्यौ से सम्बन्ध स्थापित किया है। अन्यत्र भी यह क्रम इसी रूप में पाया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में व्याहृतियों तथा लोकों का सम्बन्ध तो अन्यत्र वर्णित क्रम जैसा ही है, परन्तु वेद के सम्बन्ध क्रम से विपर्यय है। अग्नि देवता का सम्बन्ध पृथ्वी लोक और ऋग्वेद के साथ होना चाहिये, परन्तु तैत्तिरीय में यह सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ है। इसी प्रकार आदित्य देवता का सम्बन्ध द्यौलोक और सामवेद के साथ होना चाहिये, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण इसे ऋग्वेद के साथ सम्बन्धित करता है। तैत्तिरीय शाखा दाक्षिणात्यों की है, अतः वह औदीच्यों से भिन्न पथ का अनुसरण करती है, ऐसा मत कतिपय विद्वानों का हो सकता है, परन्तु हमारी सम्मति में यह क्रम-वैपरीत्य दो विभिन्न चिन्तन-प्रणालियों के कारण है। जिन कर्मकाण्डियों ने यज्ञ-विधान को मूर्धन्य स्थान दिया, उन्होंने जीवन-सुख के लिये उसी को प्रमुखता देकर अन्यों को उसकी शाखा-स्वरूप समझा। कर्म सबका मूल है। उपासना और ज्ञान उसके पश्चात् आते हैं। कर्म ही धर्म है, वही ज्ञान और भक्ति का जनक है, अथवा ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनों कर्म-कांड के ही विकसित रूप हैं—ऐसी धारणा जिन चिन्तनशील व्यक्तियों

की बनी, उन्होंने अग्नि देवता की गतिशीलता और क्रियाशीलता को ही सब कुछ समझा और उसका सम्बन्ध श्रेष्ठतम कर्म अर्थात् यज्ञ[1] करने की प्रेरणा देने वाले यजुर्वेद के साथ जोड़ दिया। सामवेद का सम्बन्ध उपासना-कांड के साथ है और उसमें याज्ञिक कर्मकांड अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप से है। उपासना में स्थूल हवि के स्थान पर मानसिक भावनामयी हवि का प्रयोग होता है, अतः वह मध्यस्थानीय समझा गया है। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकांड के साथ है, जिसमें कर्मकांड सूक्ष्मतम रूप धारण करता हुआ अपने स्रोत से जा मिलता है। उपासना या भक्तिकांड में वैधी अथवा मर्यादा मार्ग अनुष्ठान-बहुल रहता है, यद्यपि ये अनुष्ठान याज्ञिक कर्मकांड के समान विस्तृत नहीं होते और उनमें उतनी पार्थिवता भी नहीं होती। ज्ञानकांड में यह बहुलता और पार्थिवता समाप्त हो जाती है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण ने जिस क्रम को ग्रहण किया है, वह कर्मकांड की प्रमुखता पर आश्रित है और उनमें अग्नि देवता की क्रियाशीलता प्रधान समझी गयी है। यही उसकी भूमि है।

दूसरी चिन्तन-प्रणाली में ज्ञान सबका आधार है। कर्म और उपासना उसी से विकसित होते हैं। ज्ञान प्राप्त करके ही हम कर्मकांडी और उपासक बनते हैं। भक्ति इस चिन्तन प्रणाली का अन्तिम सोपान है, जो आत्मा को परमात्मा के समीप पहुँचा देता है। सज्ञान कर्म और भक्ति का महत्त्व इस चिन्तन-प्रणाली में स्थापित किया गया है। जब मुझे किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तभी मैं उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करता हूँ और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। यह प्रयत्न ही कर्म है जो अन्त में उस वस्तु से मुझे मिला देता है,

---

[1] यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ १।५।४।५

उसके उप=समीप, आसन=बिठा देता है। दूरी देशकाल की भी होती है और भाव की भी। आत्मा और परमात्मा में देश और काल की दूरी नहीं है। केवल भाव-सम्बन्धी दूरी है, जो त्रिगुणात्मक आवरणों के हटते ही नष्ट हो जाती है। ऋग्वेद ज्ञानकांड का वेद है जिससे इन आवरणों का ज्ञान होता है। यजुर्वेद के कर्मकांड द्वारा इन आवरणों को अपने ऊपर से हटाया जाता है और सामवेद के उपासनाकांड द्वारा भगवद्भक्ति करता हुआ, परमात्माके समक्ष अपने को समर्पित करता हुआ, साधक अपने इष्टदेव प्रभु को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर की पूजा, अर्चना, वंदन, भजन भक्त को ईश्वर के समीप बिठा देते हैं। वह सर्व समर्पण द्वारा निःसंग होकर अपने इष्टदेव में तल्लीन हो जाता है, जिस दशा में उसे प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी का भान नहीं रहता। सावन के अन्धे को जैसे सर्वत्र हरा ही हरा दिखाई देता है, उसी प्रकार भक्त को सर्वत्र ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं। जीवन-साफल्य की, इस चिन्तन-प्रणाली में, यही पराकाष्ठा है। यही परम गति है। यहाँ ऋग्वेद सामवेद में पर्यवसित होता है। अग्नि देवता की गति में यहाँ ज्ञान प्रधान है जो अन्य सबकी भूमि अर्थात् आश्रय है और जिसका अन्त भक्ति है।

अब संक्षेप में वेद का यज्ञ-विधान तथा छन्दों के साथ जो सम्बन्ध है, उस पर भी विचार कर लेना चाहिये।

भूमि समस्त प्राणियों का अधिष्ठान है। अकार समस्त वाणी का मूल है। अग्नि ऊर्ध्वगति वाला होने के कारण उन्नति का एकमात्र आधार है। भूमि वेदी है, जिस पर यज्ञ किया जाता है। अकार मंत्र है, जो यज्ञ की प्रेरणा देता है, उसका स्वरूप समझाता है। अग्नि हवि की सामग्री को खाकर उसे उन्नत करता है, ऊपर ले जाता है। ये तीनों भूः व्याहृति के अन्तर्गत हैं।

अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, उकार और अन्तरिक्ष तीनों का मंडल भुवः व्याहृति से व्याख्यात होता है, यह ऊर्ध्वगमन के मध्य का पड़ाव है। आहुत सामग्री को अग्नि ऊपर ले जाता है, तो वायु उसे अन्तरिक्ष में फैलाता है। यज्ञ की वेदी प्रारम्भ में भूमि थी, तो मध्य में अन्तरिक्ष है। पर आहुत हवि अन्तरिक्ष में फैलकर वहीं ठहर नहीं जाती, उसे और ऊपर उठना है। अग्नि का द्वितीय रूप इन्द्र या विद्युत् यहाँ उसका सहायक बनता है और उसे वहाँ से भी ऊपर ले जाता है। अकार मंत्र को, इसी प्रकार उकार फैलाता है, विस्तृत करता है।

स्वः व्याहृति स्व अर्थात् आत्मीयता के निकट है। इसका सम्बन्ध द्यौलोक, मकार और आदित्य के साथ है। भू आदि लोकों में फैली हुई शाखायें द्यौलोक के तने में जड़ी या जुड़ी हैं। अकार एवं उकार का फैलाव मकार में मौन होकर मग्न है। अग्नि और विद्युत् की भेदकता, खंडनीयता अखण्ड आदित्य में लीन है। आहुत हवि ऊँचे उठती हुई, स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होती हुई अपने उन्नत दिव्य रूप को प्राप्त हो गई।

यज्ञ के तीनों सवनों[1] का सम्बन्ध भी इन्हीं तीन गतियों के साथ है। प्रातःसवन आग्नेय, माध्यन्दिनसवन वैद्युत और सायंसवन आदित्य रूप है। यज्ञ के प्रकारों में अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास यजमान को दिव्यता, उन्नति के अन्तिम बिन्दु, तक पहुंचाने के लिये प्रारम्भिक सोपान का कार्य करते हैं। वे उसे दिव्यता और पवित्रता की झांकी दिखा देते हैं। अग्नि की पावन अर्चियाँ ऊपर उठ-उठ कर उसे ऊर्ध्वगमन का, आध्यात्मिक उन्नति का संदेश देती हैं, जिस घृत, समिधा तथा हव्य सामग्री की वह अग्नि में आहुति देता है, उसे अपनी

---

[1] सवन=उत्पादन, दिन में यज्ञ कर्म करने के तीन प्रकार।

शक्तिभर प्रथम ही पवित्र करने का प्रयत्न करता है, अग्निहोत्र के निकट बैठकर उसकी चेष्टा सामग्री के साथ शरीर और मन दोनों ओर से अपने को भी पवित्र करने की ओर होती है। मंत्र-पाठ उसकी इस उन्नयन अथवा पवित्रीकरण की क्रिया में अद्भुत सहायता देता है।

दर्श और पूर्णमास यज्ञ पन्द्रह दिन पश्चात् पड़ते हैं, दैनिक अग्निहोत्र भी यज्ञ का प्रारम्भिक रूप ही है, अतः यज्ञ को अपने जीवन में अधिक देर तक ठहराने के लिये अथवा यज्ञ के साथ चिर-कालीन सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, संकीर्णता या अल्पता के स्थान पर उसे विस्तार देने के लिये, चातुर्मास्य यज्ञों की कल्पना की गई है। चातुर्मास्य यज्ञ लगातार चार महीने तक चलते हैं। याज्ञिक का मन गहराई और विस्तार के साथ यज्ञ के अनुष्ठान में लीन होता है। प्रारम्भिक परिचय के पश्चात् यह घनिष्ठता अवश्यम्भावी है। जो परिचय के अनन्तर घनिष्ठ या नेदिष्ठ नहीं बनता, वह दूर ही दूर पड़ा रहता है। अतः याजक को दिव्यता के अधिक निकट पहुँचने के लिये सतत, दीर्घकालीन, अबाध संसर्ग की आवश्यकता है। यह सम्पर्क जितना ही अधिक और जीवन की नाना दिशाओं का स्पर्श करने वाला होगा, उतना ही अधिक वह अपने लक्ष्य के निकट पहुँचेगा।

चातुर्मास्य यज्ञ दिन में ही होते हैं। दिन स्मृति, जागरण या उद्बोधन का सूचक है। इसके विपरीत जब यज्ञ दिन के पश्चात् रात्रि में भी चले अथवा वह रात्रि को भी अतिक्रान्त कर दे अर्थात् जागरण में नहीं, निद्रा में भी, ज्ञान में नहीं, अनजान में भी यज्ञ होता रहे; याजक के दिन रात्रि, उसके अष्टयाम, उसका पल-पल, उसकी समग्र आयु और उसके जीवन का अंग-अंग यज्ञमयता का रूप धारण कर लें, सतत संसर्ग के पश्चात् वह घनिष्ठता की चरम सीमा का संस्पर्श करने लगे, तो समझना चाहिये कि याजक अब उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ गया

है, उसने द्यौलोक की दिव्यता को प्राप्त कर लिया है, अदिति के पुत्र आदित्य की अखण्डनीय अवस्था, आज, में रमण कर रहा है। यही उक्थ्य है, प्रशंसनीय अवस्था है। अग्नि का यही स्तोम है, स्तुति है। यही अतिरात्र है। रात्रि के अतिक्रमण या उल्लंघन कर जाने के पश्चात् जैसे प्रकाश ही प्रकाश, अजस्र ज्योति ही ज्योति दिखाई देती है, उसी प्रकार याजक इस ऊर्ध्व, उन्नत अवस्था में परम पवित्र प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के दर्शन करता है। प्रभु तो सदैव अतिरात्र हैं। रात्रि, निद्रा, तन्द्रा, प्रमाद या अज्ञान उन्हें छू तक नहीं गया। वे निरन्तर, सतत, जागरूक हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। याजक रात्रि में भटक रहा था। अब दैनिक, चातुर्मास्य और अतिरात्र यज्ञों का क्रमशः अनुष्ठान करके वह भी अपने अभीष्ट के समीप पहुँच गया। यही तो उसका गन्तव्य स्थल है, उसके विकास और उन्नति का चरम बिन्दु है।

यज्ञ-विधान का वेद के साथ यही सम्बन्ध है। यजुर्वेद का कर्म-कांड उसका प्रारम्भिक रूप है, सामवेद मध्य का विस्तीर्ण, संगीतमय, रोम-रोम को गहराई के साथ झंकृत कर देने वाला चातुर्मास्य अर्थात् दीर्घकालव्यापी स्वर-संतान और ऋग्वेद उसका अतिरात्र है, जो ज्ञान-स्वरूप अथवा प्रकाश स्वरूप है।

वेदों का छन्दों के साथ क्या सम्बन्ध है? वैदिक छन्द प्रमुख रूप से तीन प्रकार के हैं—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती। गायत्री २४ अक्षरों वाली तथा जगती ४८ अक्षरों वाली है। त्रिष्टुप् इन दोनों के बीच में ४४ अक्षरों का है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना की जाती है, मात्राओं की नहीं। अक्षरों की थोड़ी सी विभिन्नता और परिणामतः लय-परिवर्तन के साथ इन्हीं छन्दों के और भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे विराड्-गायत्री, निचृद्-गायत्री, स्वराड्-गायत्री, भुरिक्-त्रिष्टुप्, निचृत्-त्रिष्टुप्, स्वराड्-जगती, भुरिगति-जगती आदि। जगती छन्द के

कम से कम ३० भेद हैं। गायत्री छन्द में तीन चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। त्रिष्टुप् में चार चरण ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के होते हैं। कभी-कभी त्रिष्टुप् में पाँच चरण भी होते हैं। प्रथम चरण ग्यारह अक्षरों का होता है। तीन चरणों में आठ-आठ और एक में नौ अक्षर रखकर अक्षरों की ४४ संख्या कर दी जाती है।

गायत्री छन्द का ऋग्वेद से, त्रिष्टुप् का यजुर्वेद से और जगती का सामवेद से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस सम्बन्ध में भी ज्ञान, कर्म और उपासना तीन कांडों का महत्त्व निहित है। ऋग्वेद में गायत्री छन्द की विशेषता है, जिसमें त्रिपाद् होते हैं। ज्ञान त्रिकोण है। वह एक बिन्दु से प्रारम्भ होकर तीन भुजायें घेरता हुआ पुनः अपने आपसे आ मिलता है। ज्ञान भी ईश्वर, जीव और प्रकृति इन्हीं तीन तत्वों पर केन्द्रित है और वह इन तीनों भुजाओं से तीन कोणों को बनाता हुआ पुनः ईश्वर पर आकर टिक जाता है। ईश्वर ऐसा बिन्दु है, जहाँ से त्रिकोण का फैलाव होता है। यह फैलाव या विस्तार पुनः संकुचित होता हुआ उसी बिन्दु में लीन हो जाता है। ज्ञानकांड या ऋग्वेद उस एक से अनेकरूपा सृष्टि के आविर्भाव का वर्णन करता है। ब्रह्म से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। चर, एवं अचर, जंगम और तस्थुष उसी एक से प्रकट होते और उसी एक में लीन हो जाते हैं। देश और काल की दृष्टि से विचार करें, तब भी देश का अन्त काल में और काल का अन्त ज्ञान में होता है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, ऋग्वेद में ऋक् अथवा ऋचा का धात्वर्थ भी ज्ञान ही है। गायत्री छन्द में ऋग्वेद का प्रथम मंत्र गाया गया है और उसमें ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का वर्णन है। प्रत्येक मंत्र के तीन अर्थ किये जा सकते हैं :—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। मंत्र-ज्ञान के यह तीन प्रकार मानों गायत्री छन्द के त्रिपाद हैं,

गायत्री एक प्रकार के छन्द का तो नाम है ही, साथ ही यह वेद के एक पवित्र मंत्र का भी नाम है। गायत्री मंत्र को सावित्री मंत्र भी कहते हैं। गायत्री मंत्र का मानसिक जाप किया जाता है, उसे उच्च स्वर से नहीं बोला जाता, इसका एक ही कारण समझ में आता है। जो शब्द वैखरी वाणी का रूप धारण करके मुख के बाहर निकल जाता है, उसके प्रभाव की गंभीरता कम हो जाती है। शब्द का जो प्रभाव मनन की क्रिया के अन्तर्गत है, वह उसके उच्चारण में नहीं है। शब्दोच्चारण का अर्थ भी अपने लिये नहीं, दूसरों के लिये है। उच्चरित शब्द श्रोताओं को तो प्रभावित करता है, पर उसका जो प्रभाव मनन के समय अपने ऊपर था, वह कम हो जाता है। साधना में जपी (जापक) इसी हेतु गायत्री मंत्र का जप मन द्वारा करता है, मुख द्वारा नहीं।

गायत्री या सावित्री ब्रह्म-पत्नी कही जाती है, यह ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की पत्नी अर्थात् रक्षिका है। गायत्री मंत्र में प्रकाश-स्वरूप प्रभु के श्रेष्ठ तेज का ध्यान और धारण किया जाता है और बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना की जाती है, इन दोनों बातों का सम्बन्ध भी ज्ञान-कांड के साथ है। चारों वेदों में गायत्री मंत्र की मान्यता निर्विवाद है और वह द्विज मात्र के लिये है। तांत्रिकों ने इस मंत्र को अपने ढांचे में ढालकर विभिन्न देवताओं के आधार पर विभिन्न रूप प्रदान किये हैं।

गायत्री गायन अर्थात् संगीत का भी त्राण करती है। संगीत में स्वरों का एक व्यवस्थित क्रम होता है, अतः जो वैयक्तिक तथा जागतिक व्यवस्था और सामंजस्य की रक्षा करती है, वह गायत्री है।[1]

---

[1] गायत्री वै प्राणः। स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह, तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति, शतपथ, १, ३, २, १५॥

यह जीवन प्रदात्री है, ऋग्वेद अर्थात् ऋचाओं का ज्ञान ही जीवन का स्रोत है।

त्रिष्टुप् शब्द का अर्थ है तीनों की स्तुति। त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध यजुर्वेद से है जो कर्मकांड का वेद है। कर्मकांड में ज्ञान और भक्तिभाव सम्मिलित रहते हैं। प्रत्येक सोद्देश्य कर्म के प्रारम्भ में उसकी सूक्ष्म रूपरेखा विचार में विद्यमान रहती है। यदि यह न हो, तो कोई कर्म आगे बढ़ नहीं सकता, बढ़ना तो दूर, उसका सूत्रपात ही नहीं हो सकता। सप्रयोजन कर्म करने के पूर्व ही उसके जो प्रेरक कारण, क्रिया के लिये करणों और साधनों का विचार तथा उसका परिणाम मनमें आते हैं, वे ही ज्ञानकांड के भाग हैं। इसके पश्चात् ही साधनों का जुटाना और वास्तविक क्रिया का करना होता है, जो कर्मकांड कहलाता है। कर्म के लिये तीसरी बात, जो उसे अन्तिम परिणति तक ले जाती है, कर्म में मन का लगना है, इसे भक्तिभाव कहते हैं। कर्म के साथ इस भाव के लगे रहने से कर्म बोझिल प्रतीत नहीं होता। भाव कर्म को सरसता प्रदान करने वाला है। इस प्रकार अकेला कर्मकांड तीन दिशाओं से संस्तुत होता है, उसमें कर्म की प्रशंसा तो है ही, साथ ही ज्ञान और भक्ति भी संस्तुत हैं, संबद्ध हैं, कर्म त्रिष्टुप् है।

श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा यज्ञ है। यज्ञ के तीन अर्थ हैं:—पूजा, संगतिकरण और दान। यज्ञ के इन तीनों अर्थों में भी तीनों कांडों का योग है। पूजा भाव है, संगतिकरण ज्ञान है और दान कर्म है। यज्ञ याजक के अन्दर पूजनीय प्रभु के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना जागृत करता है। समानों के साथ संगति करना सिखलाता है और छोटों के लिये दान या त्याग करने की प्रेरणा देता है। यज्ञ में ये तीनों बातें एक साथ चलती हैं, अतः यज्ञ अपने अर्थ और अनुष्ठान दोनों में ही त्रिष्टुप् है॥

यजुर्वेद के कर्मकांड में, इस प्रकार त्रिष्टुप् ओत-प्रोत है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मंत्र में श्रेष्ठतम कर्म करने की आज्ञा दी गई है और उसके अन्तिम अध्याय के द्वितीय मंत्र में कहा गया है। कि मुक्ति-प्राप्ति के लिये कर्म ही एक मात्र साधन है। मानव कर्म करता हुआ सौ वर्षतक जीवित रहे। कर्तव्य को कर्तव्य समझकर सम्पादित करने से मानव उसमें आसक्त नहीं हो पाता। भगवद्गीता ने इसी मंत्र के आधार पर अनासक्ति योग का प्रचार किया, जो नवीन नहीं था। कर्म करते हुए मानव कर्म में लिप्त न हो तो, कर्म निस्सन्देह उसे संसार-सागरसे पार कर देगा।

गायत्री त्रिपाद् है, तो त्रिष्टुप् चतुष्पाद्। गायत्री तीन पैर लेकर लंगड़ी है, पर त्रिष्टुप् अपने पूरे बल के साथ चारों पैरों से भूमि पर खड़ा है। गायत्री लटक रही है, अतएव चिन्तित है, त्रिष्टुप् आराम से खड़ा है, अतएव समाश्वस्त है। गायत्री ज्ञान का प्रतीक है, तो त्रिष्टुप् कर्म का। कोरे ज्ञान को इसीलिते ऐसे मानव से उपमित किया जाता है, जो देखता तो है, पर चल नहीं सकता। उसमें इतनी न्यूनता है। आज सभी विद्वान् ज्ञान की इस कमी को अनुभव करते हैं। ज्ञान की इस न्यूनता को कर्म दूर कर देता है। वही इसे चलने में सामर्थ्य देता है, एकान्त में पड़े हुए विचार को अभिव्यक्ति की सड़क पर लाकर खड़ा कर देता है। गायत्री के त्रिपादों की त्रिशंकुता, इस प्रकार त्रिष्टुप् के चतुष्पादों द्वारा आश्वस्त आश्रय प्राप्त कर लेती है।

त्रिष्टुप् के चतुष्पाद् यज्ञ के चार ऋत्विज् हैं जो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहलाते हैं। ये चारों भी तीनों कांडों का समन्वित-रूप उपस्थित करते हैं। होता ऋग्वेदी है, ज्ञानकांडी है। अध्वर्यु यजुर्वेदी है, कर्मकांडी है, उद्गाता सामवेदी है, गायक है। संगीत भावना-

मय होता है, अतः उद्गाता भक्तिभाव का धनी है। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् है, अथर्व है, अन्य सबका नियमन करने वाला निर्देशक और आदेशक है।

त्रिष्टुप् सामान्य रूप से चतुष्पाद् है, पर कभी-कभी पंचपाद् भी हो जाता है। यज्ञ भी सामान्यतः आर्यों के चार वर्णों द्वारा ही सम्पादित होता था, पर कभी-कभी पंचम जनों को भी, उनके उद्धार के लिये, उसमें सम्मिलित कर लिया जाता था। वेद-वाणी सबके लिये है। अतः जो पंचम हैं, आर्यों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से, मर्यादा से बाहर हैं, उनको भी व्यवस्था और मर्यादा में लाने के लिये यज्ञ ही एकमात्र साधन है, यज्ञ करने से ही मानव का संस्कार और विकास होता है। यजुर्वेद त्रिष्टुप् है, चार पैरों से खड़ा आश्वस्त कर्मकाडी है। वह पंचमपाद-रूपी पंचमजन ही नहीं सबको उद्धार का आश्वासन दे रहा है। पंचपाद होकर भी त्रिष्टुप् अपने ४४ अक्षरों की मर्यादा में रहता है, उसका उल्लंघन नहीं करता। इसी प्रकार मर्यादा में आबद्ध रहने से, नियमित, व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने से प्रत्येक प्राणी, अपने को उन्नत कर सकता है। वेद इसी हेतु कहता है :—"पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्"।

ज्ञान की मर्यादा मानव की वाणी को पवित्रता देती है। यह ऋग्वेद का कार्य है[१], यजुर्वेद का कर्मकांड मन की शुद्धि करता है, सामवेद का भावमय संगीत प्राणों की पवित्रता का हेतु है और अथर्ववेद अथर्व अर्थात् निश्चल और स्थितप्रज्ञ बना कर आत्म-शक्ति का विकास करता है। इस रूप में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्य मानव का पूर्ण संस्कार करके, उसे बाहर से अन्दर तक परम पूत बनाकर ऐसी ठोस आधार भूमि पर खड़ा कर देते हैं, जहाँ से फिर स्खलन

---

[१] वागेव ऋक् प्राणः साम। छान्दोग्य १-५

ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनोयजु; प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये। युजु० ३६-१

नहीं हो सकता, हो भी तो संस्कार उसे फिर उठाकर खड़ा कर देंगे। त्रिष्टुप् के इन चार पैरों की कामना किस साधक को नहीं होगी?

जगती छन्द का सम्बन्ध सामवेद के साथ है। यह भी चतुष्पाद् है। एक पाद में बारह अक्षरों की गणना से इसमें कुल ४८ अक्षर होते हैं। ऋग्वेद की गायत्री २४ अक्षरों वाली है, जो मानों संतानित होकर ४८ अक्षरों वाली जगती में परिणत हो जाती है। जगती शब्द गम् धातु से निष्पन्न होता है। जो वार-वार गति करती है अथवा जो वार वार गाई जाती है, वह जगती है। सामवेद को ऋचायें अन्य वेदों की ऋचाओं के समान द्रुत गति से नहीं, प्रत्युत सरगम की विशिष्ट मीडों में बांधकर अत्यन्त मंद स्वर में गाई जाती है।[1] उनका एक एक अक्षर द्विगुणित या त्रिगुणित रूप धारण कर लेता है। जगती शब्द वहाँ जऽऽगा ऽऽ५ ती, कत्त्वा काऽ ५ स्त्वा, तथा वसु अन्त में आने पर वा ऽ ३ सो ३ ऽ५ रूप में गाया जायगा। होहाइ, हुम्मा संगीत की गति को टेक या आश्रय देने के लिये उच्चारित किये जाते हैं।

ज्ञान गणित की भाँति किसी अक्षर के उच्चारण को उसके रूप तक सीमित रखता है। वहाँ 'मासा बढ़ै न रत्ती घटै' वाली कहावत चरितार्थ होती है। कर्म में इतनी कठोर व्यवस्था यद्यपि नहीं चल पाती, फिर भी ध्यान बहुत कुछ इयत्ता पर रखना ही पड़ता है। भाव में यह बात नहीं रहती। भाव द्रवणशील है। इसकी प्रकृति फैलने की है। ज्ञान के किसी प्रत्यय के आने पर मानव फैलता नहीं, और भी अधिक अपने शरीर में सीमित हो उठता है। उसका मन ज्ञान की विशेष शाखा पर या विचार के विशिष्ट बिन्दु पर केन्द्रित

---

[1] गायन्ति हि साम। तत् यत् साम गायति—साम हि नाष्ट्राणां रक्षसाम् अपहन्ता। १४-२-२-१० । शतपथ ।

हो जाता है। ज्ञान केवल मस्तिष्क की शिराओं पर, तन्तु-जाल पर प्रभाव डालता है; शरीर की निखिल नाड़ी-व्यवस्था को आन्दोलित नहीं कर पाता। कर्म विशेष रूप से कर्मेन्द्रियों की स्थूल आकृति से सम्बद्ध नाड़ियों में गति उत्पन्न करता है। परन्तु जब भाव उद्दीप्त होता है, तो उसका सीधा प्रभाव हृदय पर पड़ता है, जहाँ से रक्त-वाहिनी धमनियाँ समग्र शरीर में दौड़ लगाती हुई उसे स्पन्दित और क्रियाशील बनाये रहती हैं। भावावेश के समय हृदय की धड़कन तीव्र हो जाती है और वह समस्त शरीर को झकझोर डालती है। जैसे आतप के प्रभाव से घृत पिघलकर फैलता है, अपनी जड़ीभूत सघन सीमित अवस्था से निकलकर विशाल रूप धारण करता है, उसी प्रकार भावमयता की दशा में हृदय सीमित नहीं रहता, वह सारे शरीर में बहा-बहा फिरता है। संगीत भाव-प्रधान होता है। इसमें ध्वनि मूलतः एक होकर भी उच्चारण में अनेक लहरें उत्पन्न करती है, जिनसे निकटवर्ती वायुमण्डल आन्दोलित हो उठता है। विभिन्न स्वरों में बंधकर ध्वनियाँ विभिन्न तथा नाना लहरें उत्पन्न करती हुई एकाय-नता को भंग कर देती हैं। उसकी शान्ति कम्पित हो उठती है, मौन में मन्थन उद्दीप्त होता है, पर उत्पन्न लहरों का विशिष्ट क्रम उसे अत्यन्त मादक स्वरों से ओतप्रोत भी कर देता है। इसी मन्थन या आन्दोलन से उस मधुर संगीत की भी सृष्टि होती है जो प्राणों की पिपासा को शान्त कर उन्हें अपनी इस वर्षा से आप्यायित कर देता है। सामवेद का महत्त्व इसी प्राण-प्रदायिनी, मधुर संगीत की रस वर्षा के अन्दर निहित है।

वाचः ऋक् रसः, ऋचः साम रसः। छान्दोग्यः १।१।२

यजुर्वेद का कर्मकांड अपने साथ ज्ञान और भाव को लिये हुये है, पर असम मात्रा में। ऋग्वेद के ज्ञानकांड को एकान्त पसन्द है। वह

अपने में ही मग्न है। दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। पर सामवेद का भाव अपने अंचल में सबको समेटे हुए है। वह ज्ञान और कर्म दोनों को प्रभावित करता है। उसे अलग अलग रहना आता ही नहीं, अकेले रहने में जैसे उसका दम घुटने लगता है। उसे सीमा नहीं, विस्तार चाहिये; सघनता नहीं, द्रवणशीलता चाहिये; बिन्दु नहीं, परिधि चाहिये। त्रिष्टुप् और जगती दोनों चतुष्पादों में इतना ही अन्तर है कि एक में दूसरे की अपेक्षा विस्तार या फैलाव अधिक है। जितनी तृप्ति दयाभाव में है, उतनी दान में नहीं, दान का मूल्य हो सकता है, पर दयाभाव के मूल्य को कौन आंक सकता है? वह अमूल्य है। दान सीमित है, दया असीम है, महान् है।

भाव ज्ञान और कर्म दोनों से ज्येष्ठ है। सृष्टि के आविर्भाव-क्रम में पहले भाव और उसके पश्चात् ज्ञान (नाम) तथा कर्म (रूप) आते हैं। तिरोभाव के समय क्रम विपरीत हो जाता है। उस समय कर्म ज्ञान में तथा ज्ञान भाव में विलीन होता है। साहित्य के इतिहास में भी प्रथम भावमय काव्य और उसके पश्चात् दर्शन (ज्ञान) तथा कर्म (कर्मकांड) के विधान आते हैं। इससे भी भाव की ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् [प्रपाठक ३ खंड १६] में ऋग्वेद की गायत्री, यजुर्वेद के त्रिष्टुप् तथा सामवेद के जगती छन्द का सम्बन्ध तीन सवनों और ब्रह्मचर्य के तीन प्रकारों से जोड़ा गया है। जैसे गायत्री २४ अक्षरों की है, वैसे ही वसु ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यकाल २४ वर्षों का है। यह प्रातःसवन है। इससे ब्रह्मचारी को वसु-रूपी प्राण प्राप्त होते हैं, जो उसके अन्दर शुभ गुणों का वास कराते हैं। यज्ञ का प्रथम रूप प्रातः-

सवन गायत्र कहलाता है। गायत्री ज्ञान-परक है, ऐसा हम ऊपर लिख चुके हैं।

जैसे त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है, वैसे ही रुद्र ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यकाल ४४ वर्षों का है। यह माध्यन्दिन सवन है। इससे ब्रह्मचारी को रुद्र-रूपी प्राण प्राप्त होते हैं, जिनसे वह इतना शक्तिशाली बन जाता है कि कोई कुत्सित—कर्मा अत्याचारी उसके सामने अत्याचार करने का साहस नहीं कर पाता और यदि करता है, तो वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप बनकर उस अत्याचारी को रुलाता है। यज्ञ का द्वितीय रूप माध्यन्दिन-सवन त्रैष्टुभ कहलाता है। त्रिष्टुप् कर्मपरक है, जैसा रुद्र शब्द की व्याख्या से प्रकट होता है।

जैसे जगती छन्द ४८ अक्षरों का है, वैसे ही आदित्य ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य काल ४८ वर्षों का है। यह तृतीय सवन है। इससे ब्रह्मचारी को आदित्यरूपी प्राण प्राप्त होते हैं, जिनसे वह विद्या, बल तथा प्रज्ञा सब कुछ ग्रहण कर लेता है और आदित्य के समान गुण, कर्म एवं स्वभाव से युक्त होकर प्रकाशमान बन जाता है। तृतीय सवन जागत कहलाता है। यह ब्रह्मचारी को भाव में संस्थित कर देता है।

इस प्रकार ऋग्वेद से वसु-रूप ज्ञान, यजुर्वेद से रुद्ररूप कर्म तथा सामवेद से आदित्य-रूप भाव लेकर मानव अपने जीवन को परिपूर्णता तक ले जाता है।

अथर्व वेद का सम्बन्ध अंगिरा ऋषि के साथ है। गोपथ ब्राह्मण ने इसे चन्द्रमा देवता, चान्द्रमस ज्योति तथा समस्त छन्दों से संयुक्त किया है। तैत्तिरीय उपनिषद की शिक्षाध्याय शीर्षक प्रथम वल्ली के पंचम अनुवाक में चतुर्थ व्याहृति महः को चन्द्रमा कहा गया है और लिखा है; "चंद्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते"—चन्द्रमा से ही

समस्त ज्योतियाँ महत्त्वशालिनी बनती हैं। इसके पश्चात्, इसी स्थल पर, इस उपनिषद् ने महः व्याहृति का सम्बन्ध ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद से भी जोड़ा है और लिखा है; "ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते"—अथर्ववेद से ही समस्त वेद महत्त्वशाली बनते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के ये शब्द गोपथ ब्राह्मण की मान्यता का समर्थन करते हैं। चन्द्रमा को नक्षत्रों का अधिपति और राजा कहा जाता है। समस्त ज्योतियों में वही एक ऐसी ज्योति है, जिसका सभी प्राणी अभिनन्दन करते हैं। आदित्य यदि लोकों में महिमामय है, तो चन्द्रमा ज्योतियों में महिमाशाली है। आदित्य प्राणपुंज है, प्रजा की प्राण-शक्ति का केन्द्र है, तो चन्द्रमा सुधाधार है, अमृत का सिन्धु है, प्रजा की आनन्द शक्ति का भंडार है, आह्लाद का स्रोत है। आनन्द आत्मा को महान् बनाता है। जो महान् है; वही ब्रह्म है, बड़ा है। चन्द्रमा आनन्द देता है, अतः उसकी समानता या उसका सम्बन्ध ब्रह्मवेद के साथ होना ही चाहिये।

छान्दोग्य उपनिषद् १।४।२ के अनुसार छन्दों का छन्दत्व देवों को आच्छादित करने में है। जब देव मृत्यु से भयभीत होकर त्रयी विद्या की शरण में आये तो जगती आदि छन्दों ने ही उन्हें अपने अन्दर आच्छादित किया। मृत्यु ने उस समय उन देवताओं को जल में किलोलें करती हुई मछलियों की भाँति वेदत्रयी में देखा। इस उक्ति से भी वेद का देवताओं और छन्दों से विशिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है। ऊपर की पंक्तियों में इसी सम्बन्ध पर किंचित् प्रकाश डाला गया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध सभी प्रकार के छन्दों से है।

छन्दों का ऋतुओं के साथ भी सम्बन्ध है। शतपथ ८।१।१।५ में गायत्री को वासन्ती, ८।१।१।८ में त्रिष्टुप् को ग्रैष्मी और ८।१।२।२ में जगती को वार्षी कहा गया है। ११।४।३।७ में

गायत्री का अग्निदेव से, त्रिष्टुप् का इन्द्र से और जगती का विश्वेदेवों से सम्बन्ध है। शतपथ १० । ३ । ६ । २० में ऋग्वेदादि की निरुक्ति इस प्रकार दी हुई है:—

यजुः इति एष हि इदं सर्वं युनक्ति। साम इति छन्दोगाः, एतस्मिन् हि इदं सर्वम् समानम्, उक्थम् इति बह्वृचाः, एष हि इदं सर्वं उत्थापयति। यातुः इति यातुविदः एतेन हि इदं सर्वम् यतम्।

यजुर्वेद, यह निश्चित रूप से इस सबको जोड़ता है। साम छन्दगान है, इसमें निश्चित रूप से यह सब समान हो जाता है। उक्थ, यह बहुत ऋचाओं वाला है, यह निश्चित रूप से इस सबको उठाता है। यातु, यह यातु ज्ञानियों का है, इससे यह सब नियन्त्रित है। यजुर्वेद का कर्मकाण्ड सबको एकत्र करता है। सामवेद का संगीत तथा भावमय भक्ति-काण्ड सबको, साधारणीकरण द्वारा समान भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। ऋग्वेद का ज्ञानकांड सबको उठाता है, जगाता है और उन्नति की दिशा दिखाता है। अथर्ववेद वह जादू है, जिसकी ओर सभी आकर्षित होते हैं और जिसमें सभी बँधे हुए हैं।

ऋग्वेद ८।६४।६ में वाणी को नित्य और विविधरूपा कहा गया हैं। अनादिनिधना, दिव्या, नित्या वेदमयी वाणी निखिल वाङ्मय का मूल है। अन्य वाणियाँ उसी से प्रवृत्त हुई हैं। अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा महर्षियों ने अपने तपोबल से इस वाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से प्राप्त किया था। इन महर्षियों से इस वाणी का अध्ययन ब्रह्मा ने किया और फिर संसार भर में इसका प्रचार हुआ।

गायत्री मंत्र

मानव-बुद्धि में जीवित है या शरीर में, इसकी पहचान यह है कि वह बुद्धि और शरीर दोनों में से किसकी आवश्यकता को प्राथमिकता देता है, अथवा उसके कार्य बुद्धि-प्रेरित होते हैं या नहीं ? जो केवल शरीर से जीवित है, बुद्धि की ओर जिसका ध्यान ही नहीं जाता, जिसके कार्य विचारपूर्वक नहीं होते, यंत्रवत् शरीर की परिस्थिति के अनुकूल ही प्रायः चलते रहते हैं; उसकी बुद्धि कालान्तर में कुंठित हो जायेगी। जो वस्तु प्रयोग में नहीं आती, चुपचाप किसी कोने में पड़ी रहती है, वह अपने आप निकम्मी हो जाती है। काम में न आने पर लोहा मोर्चा खा जाता है। अतः जिस वस्तु को जीवित रखना है, उसे संचालित, प्रेरित, क्रियानिरत बनाये रखने की आवश्यकता है।

शरीर की क्रिया इन्द्रिय तथा प्राण के माध्यम से मन के अधीन है। मनोबल शरीर की निर्बल अवस्था में भी उसे लिए फिरता है। बुद्धि का बल मन से भी ऊपर है। यदि बुद्धि सक्रिय है तो मन भी उसके द्वारा सक्रिय रहेगा और कर्तृत्व-शक्ति का साधक होने के कारण मन शरीर को भी गतिशील रखेगा। सक्रिय बुद्धि के अभाव में न मन की गति ठीक रहेगी, न शरीर की।

जब बुद्धि कार्य नहीं करती, तब मनुष्य के कार्य प्रायः उद्वेगों के वशीभूत रहते हैं। भूख लगी तो रोटी खा ली। प्यास लगी तो, पानी पी लिया। शरीर थक गया तो सो गए। जागरण की दशा में बाहर पानी पड़ रहा है तो अन्दर आ गये। धूप लग रही है तो छाया में आ गये। किसी ने गाली दी तो क्रोध में भर गये। सर्प दिखायी दिया तो

भयभीत हो गये। किसी ने प्रशंसा कर दी तो प्रसन्न हो उठे। जब बुद्धि प्रेरित रहती है तो मनुष्य आपे से बाहर नहीं होता। किसी को प्रशरित भरी उक्तियों या अपशब्द को सुन कर वह उन्हें विचार की तुला पर तोलता है। उनके प्रभाव, प्रेरक कारण तथा सहायक परिस्थितियों के बलाबल पर ध्यान ले जाता है। निश्चित है कि इस पद्धति में क्रिया की आकस्मिकता नष्ट हो जायगी। जो कुछ कर्म होगा वह बुद्धि की देखरेख में होगा, सोच-समझ कर होगा और परिणामतः पश्चात्ताप का हेतु न बनेगा, जिसकी सम्भावना आकस्मिक क्रिया में पद-पद पर बनी रहती है।

गायत्री मंत्र से पूर्व उपस्थान के अन्तिम मंत्र में हम प्रभु से अदीन होने की प्रार्थना करते हैं, पर जब तक हमारी जीवन-क्रिया उद्वेगों के अधीन है, तब तक हम दीन हैं, पराश्रित हैं। अदीनता की अवस्था बुद्धि के पर्यवेक्षण में काम करने पर ही प्राप्त होती है। गायत्री मंत्र में इसीलिए बुद्धि प्रेरित करने तथा सर्वश्रेष्ठ तेज के ध्यान एवं धारण करने की प्रार्थना आती है। बुद्धि, भर्ग (तेज, प्रकाश), और स्वः तीनों स्थानों पर तीन होते हुए भी एक हैं। बुद्धि मानव के अन्दर है, स्वः ब्रह्माण्ड के अन्दर है एवं भर्ग भगवान के अन्दर है। गायत्री मंत्र के साथ तीनों ही सम्बद्ध हैं।

ओ३म् का 'अ' और महाव्याहृतियों का 'भूः' आविर्भाव, अस्तित्व, सत्ता तथा स्थूलता के ज्ञापक हैं। उ तथा भुवः सत्ता से ऊपर चैतन्य के द्योतक हैं और म् तथा स्वः आनन्द के बोधक हैं। व्यष्टि में एक शरीर है, दूसरा मन तथा तीसरा बुद्धि। प्रकाश के क्षेत्र में एक अग्नि है, दूसरा विद्युत् तथा तीसरा सूर्य। तारतम्य में एक से दूसरा तथा दूसरे से तीसरा अपेक्षाकृत उत्कृष्ट हैं। तीसरे तक पहुंचते ही व्यक्ति के विकास की एक सीमा आ जाती है। भौतिक समृद्धि का यह चरम बिन्दु है।

आत्मोत्थान, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार, स्वरूपावस्थान इसी के आगे की अवस्था है। पर जबतक साधक भौतिकता की पराकाष्ठा अर्थात् बुद्धि वैभव तक पहुँच नहीं जाता, तबतक आत्मसाक्षात्कार कहाँ ? बिना प्रकाश को पकड़े प्रकाश के स्रोत का पता कहाँ ? देव सविता का वरेण्य भर्ग, श्रेष्ठ तेज, बुद्धि के प्रकाश में ही तो अनुभूत होता है।

'धी' में 'धी' धातु विराजमान है जिसका अर्थ है धारण करना। धारण ज्ञान और कर्म दोनों से होता है। अतः 'धी' में ज्ञान और कर्म दोनों का ऐक्य है। 'धी' जब जाग्रत होती है, तब ज्ञान और कर्म एक दूसरे के अनुकूल हो जाते हैं।

ज्ञान के प्रकाश में कर्म करना इसी स्थिति का नाम है। आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। विकास में आगे की और भी स्थितियाँ आती हैं, पर उनका प्रारम्भ यहीं से होता है। यह उनका आधार है। गायत्री मंत्र इसी मूलाधार की ओर ले जाता है।

देव सविता जहाँ विश्व के उत्पादक हैं, वहाँ उसके प्रेरक और संचालक भी हैं। निखिल ब्रह्माण्ड की गति उन्हीं से है। जीव का विविध योनियों में जाना तथा कर्मफल भोगना उन्हींकी प्रेरणा से होता है। वे स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। अतः इस प्रकाश की ओर बढ़ना और प्रेरणा प्राप्त करना साधक भक्तों का स्वाभाविक एवं सहज लक्ष्य बन जाता है।

अदीनता प्रकाश में ही है। अन्धकार में तो दैन्य भरा पड़ा है। हम जो पग-पग पर ठोकर खाते, गिरते और दुःखी होते हैं, उसका एकमात्र कारण बुद्धि के प्रकाश का अभाव है। अदीनता में स्वः अर्थात् सुख-विशेष है। गीता में वर्णित दैवी सम्पत्ति के शीर्षस्थान पर अभय है, जो सत्त्व-संशुद्धि पर आश्रित है। सत्त्व की संशुद्धि ज्ञान योग की व्यवस्थिति पर आधारित है। दैवी सम्पदा के जो अंग गीता

के १६ वें अध्याय में वर्णित हुए हैं, उनमें पूर्वापर संगति-सम्बन्ध है। वहां अभय की अवस्था ही अदीनता की अवस्था है जो सत्त्व अर्थात् बुद्धि की संशुद्धि, आवरण-हीनता, निर्लेपता, निर्मलता की अपेक्षा रखती है। ऊपर पड़े हुए मल या आवरण ही बुद्धि की प्रेरणा के बाधक हैं। प्रभु की कृपा से ये आवरण हट जाते हैं तो बुद्धि का प्रकाश खिल उठता है।

जिसकी बुद्धि में यह प्रेरणा, यह उद्बोधन, यह जागरण आ गया, वह दिव्य सम्पदा में पहुँच गया। अदीनता और निर्भयता उसकी चिरसंगिनी बन गई। यहीं से वह स्वः के स्रोत को देख रहा है, वरेण्य भर्ग की विभा को ध्यान में ला रहा है। ध्यान के बाद धारणा भी हो जायगी। किसी के निकट पहुंच गये तो यह नैकट्य उसे अपना बना ही देगा। वही वस्तुतः अपना है। आत्माके लिए परमात्मा ही आपिः है और कोई नहीं और इसीलिए वही वरेण्य, वर्ण्य तथा वरणीय है। गायत्री मंत्र हमें प्रकृति के वक्ष्म या शिर पर बैठा कर प्रकृति के भी प्रियतम परमेश्वर की उपासना करना सिखाता है। जीवात्मा का यही तो गन्तव्य है। बुद्धि के प्रकाश में पहुँचे बिना उपासना की यह अनुभूति असम्भव है।



तीन देवियाँ

देव दिव्य हैं। उनकी शक्तिरूपा देवियाँ भी दिव्य हैं। दिव्यता ऊर्ध्वगमन है। पंचतत्वों में इसका दर्शन अग्नि में होता है। अग्नि ऊपर जाने और ले जाने वाली है। पृथ्वी की दृढ़ता स्थिरता की सूचक है। जल निम्नगा प्रवृत्ति रखता है। वह ऊपर भी जा सकता है, पर स्वतः नहीं, किसी आग्नेय शक्ति के सहारे। दिव्यता आग्नेय तत्त्व के साथ ही प्रारम्भ होती है।

निरुक्तकार यास्क ने अग्नि के तीन रूप बताये हैं :—पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्यौ स्थानीय। ये तीनों ही मानव की अनुभूति के विषय हैं। पार्थिव अग्नि हमें शैत्य, ठिठुरन अथवा जड़त्व से बचाती है, क्रियाशील बनाती है, और चिन्तन में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करती है। अन्तरिक्ष की अग्नि विद्युत है। इसका कार्य विद्योतन है। जलबिंदु-समूहों के पारस्परिक संघर्ष से यह प्रकट होती है। ऊपर अंतरिक्ष में इसके रूप को देख कर ही हमने यहाँ भी इसे प्रकट कर लिया है, और उससे नाना प्रकार के कार्य ले रहे हैं। द्यौ स्थानीय अग्नि सूर्य है जो हम सबका जीवन प्राण है। प्राणदान के साथ वह अपान की क्रिया भी करता है। उसके उदय होते ही मानव की दृष्टि से जो जुगुप्सित मलमूत्रादि हैं, वे सब तिरोहित हो जाते हैं। सूर्य उनका अपनयन करता है।

ब्रह्माण्ड में स्थित अग्नि के इन तीन रूपों के समानान्तर मानव शरीर में भी अग्नि के तीन रूप हैं, वाणी, मन और बुद्धि। ऐतरेय उपनिषद् २-४ के अनुसार बाहर व्याप्त अग्निदेव ही वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया है। माण्डूक्य उपनिषद् का स्वप्न स्थानीय अन्तःप्रज्ञ

मन है जो तैजस अर्थात् वैद्युत है और द्यौ का सूर्य ही बुद्धि है। ऐतरेय उपनिषद् में सूर्य को चक्षु बनकर आँखों में प्रविष्ट हुआ कहा है क्योंकि चक्षु शक्ति ही बुद्धि, दर्शन अथवा ज्ञान की प्रमुख इन्द्रिय है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में हम जो कुछ सुनते हैं वह किसी का कहा हुआ है अर्थात् वाणी का विषय है। इस सुने हुए पर हम मनन करते हैं। मनन की अन्तिम गंभीर स्थिति निदिध्यासन है। सुना हुआ इसी प्रक्रिया द्वारा आत्मसात होता है, अपना बनता है। अपने अन्दर धारण किया जाता है। इसके ऊपर अर्थात् निदिध्यासन की भी सीमा से परे प्रज्ञा है। इसी को स्वयं प्रकाश कहा जाता है। वाणी, मन और बुद्धि तीनों ही आग्नेय अर्थात् प्रकाशक हैं। वाणी का सम्बन्ध श्रवण से, मन का मनन और निदिध्यासन से तथा बुद्धि का प्रज्ञा से सम्बंध है। मनन और निदिध्यासन द्वारा सुने हुए को धारण कर लिया जाता है इसे मेधा का कार्य भी कहा जाता है। मेधा को धारणावती बुद्धि कहा गया है। मे = मेरे अन्दर जो धा = धारण करावे अथवा (मेधृ = संगमने), जो किसी वस्तु के साथ मेरा संगम-मिलन करा दे।

प्रज्ञा से ही प्राज्ञ शब्द बनता है। माण्डूक्य उपनिषद ने प्राज्ञावस्था को सुषुप्ति से सम्बद्ध किया है और इसे एकीभूत, आनंदघन और चेतोमुख कहा है। आग्नेय प्रकाशों की यह मिति है। ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाश की मिति है, सीमा है और शरीर में बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा। जैसे बाहर के प्रकाश सूर्य में लीन हो जाते हैं वैसे ही शरीर की प्रकाशात्मिका शक्तियाँ बुद्धि में। अंग्रेजी में इस प्राज्ञ प्रकाश को Intuition कहा जा सकता है। इसके उदय होने पर अन्य प्रकाशों के साहाय्य की आवश्यकता नहीं रहती। वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है। प्रज्ञा की स्थिति में यह ज्ञान स्पष्ट दिखाई देने लगता है और इस रूप में प्राज्ञ की अवस्था मानसिक ज्ञान से भी ऊपर की वस्तु कही जा सकती है।

सृष्टिक्रम में अव्यक्त, सगुण और अन्त में स्थूल या साकार रचना का प्रायः उल्लेख हुआ है। अव्यक्त अवस्था जब अभिव्यक्ति की ओर प्रयाण करती है तो सर्व प्रथम बुद्धि में वह सगुण रूप धारण करती है। यह सगुण रूप अहंकार और मन से मिलकर आविर्भूत होता है, प्रकाशित हो उठता है। ज्ञान इसी अवस्था में दर्शन का विषय बनता है। वेदमन्त्रों का वस्तुतः ऋषियों ने दर्शन किया था। प्राथमिक ऋषियों से उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रवण द्वारा प्राप्त किया। अतः उनकी संज्ञा 'श्रुति' हो गई। सगुण रूप के पश्चात् सूक्ष्म क्रमशः स्थूल और स्थूलतर होता हुआ स्थूलतम साकार रूप धारण करता है। मन के पश्चात् प्रकाश का स्थूल रूप वाणी है। ऋग्वेद १-१३-९ में इन तीन प्रकाशों का तीन देवियों के रूप में वर्णन किया गया है:—

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः। बर्हिः सीदन्त्व स्रिधः॥

इडा, सरस्वती और मही तीन देवियाँ आनन्ददायिनी तथा मंगलमयी हैं—वे हमें विस्मृत न करती हुई इस जीवन यज्ञ में विराजमान रहें। इडा शब्द पृथ्वीवाचक है और स्तुतिपरक अर्थ रखता है। इसे हम स्तुति करनेवाली वैखरी वाणी कह सकते हैं। सरस्वती सरण अथवा प्रवाह की अनेक गतियों की सूचक है। मन में ज्ञानधारा के नाना प्रवाह उठते और गिरते रहते हैं। भावों के उत्थान और पतन की कहानी मन में ही सन्निहित है। वैखरी वाणी के भी विभिन्न रूप वहीं आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त करते हैं। अतः मन की प्रकाशात्मिका शक्ति तैजस और सरस्वती कही जाती है। वही महत्त्व की सूचना देती है। महान अथवा महत्तत्व अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्त या पश्यन्ती अवस्था है। महत्तत्व को ही ऋषियों ने बुद्धि कहा है। बाह्य प्रकाश की मूल अवस्था यही है। ऋग्वेद ७–२–८ में मही के स्थान पर भारती शब्द है। जो सबको अपने अन्दर भर ले या सब

का भरण पोषण करे और सब को भा=प्रकाश का राति=दान दे अथवा जो प्रकाश में रति (= रमण) करे—वह भारती है। बुद्धि से ही अन्य प्रकाशों को प्रकाश मिलता है, वही अन्य प्रकाशों को अपने अन्दर समेट लेती है, अतः बुद्धि ही भारती है और वही मही अर्थात् महान है।

सामाजिक क्षेत्र में इडा वाक् व्यवहार है। सरस्वती सांस्कृतिक चेतना के नाना तरंग-संकुल महान ज्ञानार्णव को प्रकट करती है और मही मानव अथवा अखिल संसृति की एकता, समन्विति और स्वस्ति की सूचना देती है।

ये तीनों देवियाँ दिव्य हैं। जिस मानव ने इनकी शरण ग्रहण की, बिना भुलाये हुए यज्ञ की वेदी पर इन्हें बिठाकर अर्चना एवं आराधना की, सतत स्मरण द्वारा इनकी उपासना की, उसे ये देवियाँ दिव्य बना देती हैं, ऊपर उठा देती है, पाशों से विमुक्त कर पवित्र बना देती हैं। प्रपंचोपशम अद्वैत देव शिव-इन्हीं की करुणा से प्राप्त होता है।



ज्ञान, कर्म और भक्ति का अन्योन्य सम्बन्ध

सृष्टि के मूल में जो काम है, वह मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भाव है। प्रत्येक रचना अथवा कृति के पीछे यही काम-भावना रहती है। ज्ञान और कर्म दोनों इसी से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उपनिषदों में इसी हेतु काम के पश्चात प्रजाकाम प्रजापति के तप करने का उल्लेख हुआ है, जो ज्ञान और कर्म दो रूपों वाला है।

इस प्रकार रचना-क्रम में परमात्मा से भाव और भाव से तप-रूप ज्ञान तथा कर्म प्रकट होते हैं, जो पीछे नाम-रूपात्मक जगत में परिणत हो जाते हैं। विलीनीकरण में यह क्रम विपरीत हो जाता है। नाम तथा रूप भाव में और भाव परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। भक्त भी इसी प्रकार अपनी चित्त-वृत्तियों को नाम-रूप के सहारे भाव में, फिर भाव के सहारे परमात्मा में लीन कर देता है। भक्तियोग इसी भाव-पद्धति का दूसरा नाम है।

भक्ति-क्षेत्र में ज्ञान और कर्म भी नाम और रूप के समान ही स्थिति रखते हैं। मानवता के विकास में सबसे नीचा स्तर उन मनुष्यों का है, जो तमोगुण से आच्छादित हैं, जिनकी गति विचार-विहीन है। ऐसे व्यक्तियों को कर्मकाण्डी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी गति के साथ जब तक विचार सम्मिलित न हो, तब तक उसे कर्म नहीं कहते। निद्रा में करवट लेना कर्म नहीं, शरीर की गति है। घड़ी की सुइयों के चलने को गति कह सकते हैं, कर्म नहीं। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि का चलना गति है। परन्तु जब मैं भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के विचार से किसी भक्तिपरक ग्रन्थ को पढ़ता हूँ, तो यह पढ़ना

कर्म है; शरीर की शुद्धि के विचार से व्रत रखता हूँ, तो यह व्रत कर्म है। तमोगुणी व्यक्ति प्रायः विचारशून्य होकर कार्य करता है। अतः उसके कार्य वैसी ही गति की संज्ञा प्राप्त करते हैं, जैसी जड़ पदार्थों में देखी जाती है। इसी कारण तमोगुणी व्यक्ति को जड़ भी कह देते हैं। तमोगुण का यह जड़त्व रजोगुण में दूर हो जाता है। रजोगुणी व्यक्ति किसी से राग अथवा किसी से द्वेष करता है। इन्हीं दोनों भावों से उसकी समस्त क्रियाएँ—प्रभावित रहती हैं और इसी हेतु वह पुण्य-पाप-मिश्रित कर्म करने वाला कहा जाता है। कर्म यहाँ अपना कुत्सित अथवा सुन्दर रूप दिखाते हैं। रजोगुणी व्यक्ति तमोगुणी व्यक्ति की भाँति प्रमाद में नहीं पड़ा रहता। वह क्रियाशील बनता है। बिना कर्म किए वह रह नहीं सकता। इस प्रकार तम विकसित होकर रज में लीन हो जाता है। विकास का यह प्रथम स्तर है, जिसमें मानव अपनी सामान्य गति को कर्म का नाम देता है। वह कर्मकाण्डी बनता है। रजोगुण से ऊपर सतोगुण की स्थिति है। इसे ज्ञान और प्रकाश का क्षेत्र कहा जाता है। यहाँ कर्म ज्ञान में लीन हो जाता है। गीता ने जो ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म-राशि का भस्म हो जाना लिखा है, उसका यही आधार है।

अतः विकास-क्रम में जड़त्व से सम्बन्धित गति कर्म में और कर्म ज्ञान में लीन होता है। ज्ञान किसमें लीन होगा? इसे निश्चित रूप से भाव में लीन होना चाहिए, जो रचना-क्रम में इसका पूर्ववर्ती है। भक्ति भाव ही तो है। अतएव कर्म और ज्ञान का पर्यवसान भक्ति में होता है।

यदि कोषों पर विचार किया जाय तो अन्नमय कोष प्राणमय कोष में परिणत हो जाता है। समस्त अन्न प्राण का भोजन है। प्राणमय-कोष, जिसे गति का मुख्य क्षेत्र कहा जा सकता है, मनोमयकोष में

लीन हो जाता है। मन ही राग और द्वेष का केन्द्र है और समस्त कर्म का स्रोत है। जिस कर्म के साथ मन नहीं लगा है वह कर्म ही नहीं है, गति मात्र है। मन बुद्धि में लीन होता है। बुद्धि सत् का अंश और ज्ञान का क्षेत्र है। यह बुद्धि अथवा ज्ञान-वृत्ति जिसके सहारे आत्म-तत्त्व में लीन होगी, वह भाव ही है, जिसे श्रद्धा और भक्ति-भावना का नाम दिया गया है। आनन्दमयकोष का सम्बन्ध इसी हेतु ईश्वर की उपासना के साथ है।

साधना में सत् से मुक्ति पाना अपने वश के बाहर है। भक्त को इससे छुड़ानेवाले भगवान ही हैं। कठोपनिषद् २-२-१३ में लिखा है कि प्रभु नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन हैं। वे अकेले अनेक जीवों की कामनाओं को पूरा करते हैं। जीव की सर्वश्रेष्ठ कामना बन्धनों से छूट कर परमगति प्राप्त करना है। इसे भगवान ही सफल बनाते हैं। इसीलिए ज्ञानकाण्डियों को अपनी मान्यता में परिवर्तन करना पड़ता है। जिसे छोड़ने का वे दम भरते हैं वह छोड़ने में भी उनके साथ लगा है। 'मैंने इसे छोड़ दिया है।' इस कथन में अहंकार बोल रहा है। अहंकार छोड़ा नहीं जा सकता। इसे प्रभु को समर्पित करना पड़ता है। यह समर्पण, शरणागति अथवा प्रपन्नावस्था ही भक्ति-काण्ड का सर्वस्व है। भक्ति ही भक्त को भगवान से मिलाती है।

ज्ञान और कर्म भक्ति के साधन बनते हैं। भक्ति दोनों का फल है। निम्नस्तरों में ज्ञान और कर्म दोनों के लिए श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है परन्तु ऊर्ध्वस्तरों में ज्ञान और कर्म का पर्यवसान भक्ति में ही होता है। ऋग्वेद के शब्दों में :—

विदन्तीमत्र नरो धियन्धा हृदा।
यत्तष्टान् मंत्राँ अशंसन्॥ १-६७-२



ब्राह्मणत्व

योरोप में जब औद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ तो वहाँ के विद्वान प्रत्येक वस्तु को यंत्र के रूप में देखने के अभ्यासी बन गये। यंत्र में छोटे-बड़े अनेक पुर्जे होते हैं, जो पारस्परिक सहयोगी क्रियाओं द्वारा यंत्र के संचालन में भाग लेते हैं। जिसने मशीन का निर्माण किया होगा उसके मस्तिष्क में विभिन्न पदार्थों की क्रियाएँ उनका एक दूसरे से सम्बद्ध होना और एक दूसरे को अपनी व्यक्तिगत क्रिया द्वारा प्रभावित करना प्रमुख रूप से विद्यमान रहा होगा। यंत्र या मशीन के छोटे बड़े सभी भाग उस यंत्र की सार्थकता सिद्ध करते हैं। औद्योगीकरण के पश्चात् योरोप के विद्वान कला की ओर झुके। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक आविष्कारों के अन्दर प्राणी विज्ञान ने उन्हें बड़ी सहायता दी। प्राणतत्व वनस्पतियों से लेकर मानव योनि तक कार्य करता है। वनस्पति जगत में एक अत्यन्त विचित्र वस्तु दिखाई देती है। छोटे-छोटे पादप अंकुरित होते हैं, बढ़ते हैं और अपने अंतिम परिणमन में अपनी शिखा के ऊपर ऐसे फूलों को खिलाते हैं जो अपने सौरभ से एक ओर मानव की नासिका को तृप्त करते हैं और दूसरी ओर आकर्षक रंग-रूप द्वारा मानव मन का भी अनुरंजन करते हैं। वनस्पति जगत में खिला हुआ यह फूल किसी कलाकार के अन्तस्तल में बैठे हुए सौंदर्य का प्रतीक है। कला का सौन्दर्य विशेष रूप से मानव-मन को आकर्षित करता है। कविता अपने अंचल में यंत्र के मूल में निहित विचार और फूल के मूल में निहित सौंदर्य दोनों को समाविष्ट किए हुए है। कविता के द्वारा हमें विचार प्राप्त होते हैं और साथ ही मनोमोहक कलागत सौंदर्य भी। कवि का महत्त्व इन दोनों तत्त्वों के कारण बहुत अधिक बढ़ जाता

है। अग्निपुराण में इसी हेतु शक्तिशाली कवियों के व्यक्तित्व को मानव-विकास में मूर्धन्य स्थान दिया गया है।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर कवि की संज्ञा विपश्चित, विप्र, सूरी और ऋषि आदि शब्दों द्वारा निर्दिष्ट की गई है। ब्राह्मणत्व केवल विद्या में नहीं, ऋषित्व अर्थात् साक्षात्कार में है। ऋषि का अर्थ ही है द्रष्टा। ब्राह्मण प्रकृति के अंतराल में निगूढ़ उस अलक्ष्य तत्व का साक्षात्कार करता है, जो ज्ञान रूप होता हुआ भी सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है। उसी की निकटता में रहकर, ब्राह्मण अपने जीवन में एक ओर ज्ञाननिधि के रूप में दृष्टिगोचर होता है एवं दूसरी ओर जीवन के सभी अंगों का सामञ्जस्य करते हुए सौन्दर्य का कोष भी माना जाता है। यह आवश्यक नहीं कि उसका बाह्य आवरण भी सुन्दर हो। आवश्यक तत्व यह है कि उसका आचरण, उसकी रहन-सहन, उसकी बातचीत, उसकी चिंतन-प्रणाली एक अद्भुत आकर्षण रखती हो—वैसा ही आकर्षण जो हमें सुन्दर रूपों और आकारों में अनुभव होता है। ब्राह्मण को इन मानवों में सबसे ऊँचा स्थान मिला है, तो अपनी इसी विशेषता के कारण।

ब्राह्मण का मन, वाणी और कर्म एक होते हैं। वह अपने कल्याण-कारी चिंतन के साथ मंगलमयी वाणी का उच्चारण करता है और उसी के साथ अपना दिव्य आचरण प्रकट करता है। उसका हृदय मानवता से ओतप्रोत रहता है। ब्राह्मण को यदि हम मानवता-लता का विकसित कुसुम कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। जैसे वाणी में अर्थ निहित है, लहर में जल ओतप्रोत है, चिनगारियों में अग्नि विद्यमान है वैसे ही सत्य आचरण में, ऋजुता में तथा अलक्ष्य की समीपता में ब्राह्मण विद्यमान है। शरीर में मस्तिष्क का जो महत्व है, वही समाज में ब्राह्मण का। मस्तिष्क की रक्षा अन्न, प्राण और मन तीनों के द्वारा होती है,

वैसे ही ब्राह्मण की रक्षा में शुद्र, वैश्य और क्षत्रिय तीनों संलग्न रहते है और उन्हें रहना भी चाहिए।

मस्तिष्क-रहित शरीर अपना मूल्य खो देता है, वैसे ही ब्राह्मण-विहीन समाज चरित्र से भ्रष्ट हो अपनी उपयोगिता नष्ट कर लेता है। महाभारत में लिखा है कि अनेक क्षत्रिय जातियाँ ब्राह्मणों के सम्पर्क से दूर होकर वृषलत्व को प्राप्त हो गईं और कई स्थानों पर यह भी लिखा है कि ब्राह्मणों के सम्पर्क में आकर अनेक निम्नकोटि की जातियाँ उच्च-वर्णों में सम्मिलित हो गईं। सच्चा ब्राह्मणत्व क्या नहीं कर सकता? क्या हम अपने पूर्वजों का गौरव ध्यान में रखते हुए इस दिशा में सोचने और तद्वत् आचरण करने का यत्न करेंगे।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमंपदम्। साम० १६७२



मानवता

मानव निस्संदेह सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, परन्तु अपने सहवर्गियों में उसके भी कतिपय विशिष्ट स्थान हैं। कुछ मानव वाक्शक्ति के धनी होते हैं, किसी को चिंतन-शक्ति बलवती होती है, किसी में शारीरिक बल की और किसी में प्राणशक्ति की अधिकता होती है। आर्य जाति में इसी शक्ति-वैभिन्य के आधार पर चार वर्णों की रचना हुई है। चारों वर्ण मानवता के विकास के चार स्तरों की घोषणा करते हैं। शूद्र वर्ण अपने कर्तव्य-पालन में हाथ-पैरों का ही उपयोग अधिक करता है। वैश्य मस्तिष्क से धन के उत्पादन में सहायता लेता है, साथ ही शरीर से भी उसे पर्याप्त कार्य करना पड़ता है। शूद्र के उत्तरदायित्व से बढ़कर वैश्य का उत्तरदायित्व है। शूद्र को अर्थोत्पादन के लिए सोचना नहीं पड़ता। वह जानता है कि मैंने शरीर से किसी की सेवा की है, तो मुझे मेरा स्वामी रोटी तथा कपड़े दे ही देगा। ऐसी निश्चिन्तता वैश्य के जीवन में नहीं होती। उसे व्यापार में, पशुपालन में तथा कृषि आदि में लाभ-हानि का विचार करना पड़ता है। अर्थ के अर्जन के लिये विदेश-यात्रा भी करनी पड़ती है और इन कार्यों में उसे जोखम उठानी पड़ती है। वैश्य का यह जीवन शूद्र-जीवन की अपेक्षा क्लेशाक्रान्त है। शूद्र की निश्चित जीवन-यापन की मनोवृत्ति उसे किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए उत्साहित नहीं करती, परन्तु वैश्य की मनोवृत्ति ऐसी बन जाती है जिसमें वह घर पर हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रह सकता, उसे उद्योग करना ही है। व्यवसाय के बिना वह अपना कार्य-संचालन कर ही नहीं सकेगा।

वैश्य का कार्य धनार्जन तक ही सीमित रखा गया है, परन्तु समाज में यदि शूद्र और वैश्य दो ही वर्ग हों तो समाज में एक प्रकार का अभाव सा दिखलाई देगा। शूद्रों के निश्चित जीवन और वैश्य के धनार्जन के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ कौन उत्पन्न करेगा? अर्जित एवं संचित धन के रक्षण की व्यवस्था भी आवश्यक है। एक व्यक्ति सभी काम नहीं कर सकता। व्यवसाय करने वाला शस्त्र-संचालन की योग्यता नहीं रखता। यदि रखता भी हो, तो दोनों कार्य वह एक साथ नहीं करसकता। यह कार्य अन्य व्यक्तियों को ही करना पड़ेगा। शस्त्रजीवी वर्ग इसीलिए अपना पृथक् अस्तित्व रखता है और समाज को उसकी आवश्यकता है। यह वर्ग क्षत्रिय वर्ण के नाम से अभिहित हुआ है। क्षत्रिय वृत्ति प्राणों को हथेली पर रखने की वृत्ति है। मरण का स्वेच्छा से वरण करना इसी वर्ण के भाग्य में पड़ा है। शूद्र मरण चाहता ही नहीं, वैश्य मरण से घबड़ाता है; पर क्षत्रिय मरण को अपनी आँखों से देखना चाहता है। उसे न जीवन की चिन्ता है, न धन की, उसका एक मात्र कर्त्तव्य सामाजिक रूप से जीवन और धन दोनों की रक्षा करना है। इस रक्षा में उसे प्राण भी समर्पित करने पड़ें, तो चिन्ता नहीं। इन तीनों के अतिरिक्त समाज में एक चौथा वर्ण ऐसा भी होना चाहिये जो सत्य और असत्य में, धर्म और अधर्म में, पाप और पुण्य में विवेक रखने वाला हो।

क्षत्रिय का कार्य शोषक से शोषित की रक्षा करना है, पर उसे शोषक और शोषित की परिभाषा कौन बतावेगा? धन का उपयोग देश, काल और पात्र की योग्यता से होना चाहिये। यह शिक्षा कौन देगा? त्याग, परोपकार जैसे उच्च आदर्शों की व्याख्या कौन करेगा और कौन उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ करके समाज के सामने आदर्श उपस्थित करेगा? समाज को ऐसे एक चतुर्थ वर्ण की आवश्यकता है।

आर्य जाति ने इस वर्ण को ब्राह्मण वर्ण कहा है। मानवता इस प्रकार शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चार वर्णों में क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करती है। आश्रम-मर्यादा इसी के साथ चलने वाली है। चारों वर्ण गृहस्थ-धर्म का पालन करते हैं। क्षत्रिय इससे निकलकर अपने वार्धक्य में वन का आश्रय लेता है—वानप्रस्थ बनता है। ब्राह्मण अपने तीसरे भाग में ही बनस्थ हो जाता है और चौथे भाग में संन्यास ले लेता है। ब्राह्मणत्व में संन्यास मानव-जीवन के उत्कर्ष की सीमा है।

जन्म से हम सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं। यह अवस्था बिना कमाई अपरिमर्जित मिट्टी ही सी है। मिट्टी का जब संस्कार हो जाता है तो उससे अनेक मनोरंजक खिलौने एक ओर बनते हैं और दूसरी ओर घट जैसे पात्र तथा भवन-निर्माण करनेवाली ईंटें आदि।

इसी प्रकार मानव-जीवन का भी शूद्रत्व की कोटि से निकालकर संस्कार किया जाता है। इस संस्कार से कोई वैश्य बनता है, कोई क्षत्रिय और कोई ब्राह्मण। तीनों को द्विज की संज्ञा प्राप्त है। द्विजों का श्रेणी-विभाजन पुनः संस्कार की अपेक्षा रखता है। मिट्टी जितना ही अधिक कमाओ उतनी ही अधिक उपयोगी बनेगी। इस शरीर को भी जितना अधिक परिमार्जित करो उतना ही अधिक यह चमकेगा। इस परिमार्जन की कसौटी तप है। तप भी शारीरिक, वाचिक, मानसिक, तथा तामस, राजस, सात्विक आदि कई प्रकार का है। जो व्यक्ति जिस स्थान पर है वह उसके अनुकूल ही तप कर सकेगा। कुछ व्यक्ति घंटों ध्यान में मग्न रहते हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं जो एक मिनट के लिये भी अपने मन के चांचल्य को रोक नहीं पाते। कुछ एक पाँव से घंटों खड़े रह सकते हैं, पर इन्हीं में ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिन्हें भद्र तथा अभद्र का ज्ञान तक नहीं है। तप के साथ श्रद्धा अवश्य रहनी चाहिये। मानव इसी श्रद्धा के आधार पर अपना विकास करता है। तप और श्रद्धा से

समवेत व्यक्ति ही ज्ञानालोक में पहुँचते हैं और वही अपने सत्याचरण द्वारा विश्व का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं।

ऊपर विकास-पथ की जिन सरणियों का उल्लेख किया गया है उनमें श्रम-मर्यादा को प्रमुखता दी गई है। प्लेटो ने अपने चिन्तन द्वारा लगभग इसी पद्धति का उद्‌घाटन किया था। शूद्र और वैश्य दोनों के कार्य उसने एक में मिला दिये थे और उन्हें आर्टीजन या क्रैफ्टसमैन (Craftsman) कहा था। क्षत्रिय को वारियर (Warrior) और ब्राह्मण को उसने फिलॉसफर (Philosopher) की संज्ञा दी थी। आश्रम व्यवस्था में वह वानप्रस्थ और संन्यास की बात नहीं सोच सका। 'आर्य' ऋषियों ने इनकी आवश्यकता अनुभव की। भागवतों के एक वर्ग ने वानप्रस्थ की मर्यादा को और भी आगे बढ़ाया। गृहस्थ में ही उसने वानप्रस्थ का नियोजन किया। भागवतों का यह वर्ग वैखानस सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक के कण्व ऋषि इसी श्रेणी के हैं। भोग में योग और भुक्ति में मुक्ति का सामंजस्य करने वाला यह वर्ग कठोर तपश्चर्या को अपना जीवनादर्श समझता था। मानवता का विकास अकेले भोगवाद में कभी नहीं समझा गया। भोग के साथ त्याग, आदान के साथ विसर्ग, आत्मसंचय के साथ आत्मसमर्पण भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। हमारी जाति अपने उदय-काल से इसी घुट्टी को पीकर अमर बनी है, और सम्भवतः विश्व के मानवों का पथ-पदर्शन करने के लिये ही वह अपने अंचल में इन आदर्शों को संजोए बैठी है। आज के कलहकवलित, रागद्वेषग्रसित मानव को शान्ति-प्राप्ति का यदि कोई साधन उपलब्ध हो सकता है, तो वह आर्य जाति के इसी आदर्श में उपलब्ध होगा।



मानवता का विकास और वेद

वेदत्रयी ज्ञान, कर्म, और उपासना तीन काण्डों का मानव-जीवन के विकास के लिए निर्देश करती है। मन और बुद्धि के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानार्जन का साधन हैं, मन, और बुद्धि के साथ कर्मेंद्रियाँ कर्म का साधन हैं। और इस समस्त संघात को लिए हुए आत्मा उपासना में निरत होती है। उपासना का अर्थ है आत्मा का अपनी समस्त शक्ति को प्रभु के आगे समर्पित कर देना और उसके समीप बैठ जाना। यह समीपता भी सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य नाम से चार प्रकार की है।

ज्ञान के क्षेत्र में वाणी की प्रमुखता है। दूसरों के मुख से सुनकर हमें अनेक बातों का ज्ञान होता है। वाणी का बना हुआ वाङ्मय ज्ञानार्जन का हेतु है, इसे सभी स्वाध्याय-प्रेमी समझते हैं। विद्यालयों में विद्यार्थियों के सामने भाषण देने वाला लेक्चरर या प्रोफेसर अपने वाणी-प्रयोग द्वारा ही ज्ञान-दान देने में समर्थ होता है। प्रसिद्ध वाग्मी अपने वाक्पाटव द्वारा श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर लेता है और जितनी देर श्रोता उसके वचनों का श्रवण करते हैं उतनी देर तक उनका मानसिक जगत वाग्मी के मानसिक जगत के साथ एक हो जाता है। वह अपनी इच्छा के अनुकूल उनके मनों को मोड़ देता रहता है। क्षण भर में हँसा दे, क्षण भर में रुला दे, क्षण भर में वीरत्व की भावना भर दे और यदि चाहे तो क्षण भर में भयभीत कर दे। यह क्रिया प्रभविष्णु मन की क्रिया है, और ज्ञान के क्षेत्र में बहुमूल्य स्थान रखती है। इसी का समुचित विकसित रूप (Clair voyance) विचार-प्रेषणीयता अथवा मन-संज्ञान और इसके भी ऊपर निखिल मानसों की ज्ञान-

एकता है। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक एसपीनस (Espinus) ने इसीको Sumtotal of all minds अथवा universal mind अर्थात् सर्व व्यापक मन कहा है।

कर्म का सीधा सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों के साथ है परन्तु मन उनका संचालक है। मन यदि कर्मेन्द्रियों के साथ है तब तो कार्य की सिद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं। प्राण-शक्ति से समवेत अनेक बलवान पुरुष मन के साहस के साथ अपूर्व पौरुष के कार्य कर जाते हैं, परन्तु मन के निर्बल और निरुत्साहित हो जाने पर बड़े से बड़े बलवान व्यक्ति भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रह जाते हैं। कर्तृत्व-शक्ति वस्तुतः मन के ही अन्दर है। कर्मकाण्ड का सीधा सम्बन्ध इसी-लिए मन के साथ है।

प्राणवत्ता उपासना के समय पुलकित हो उठती है। रोम-रोम नाचने लगता है। अंग-अंग फड़कने लगता है। अन्दर चित्त द्रवित हो जाता है। प्राण शरीर का राजा है। वह खिल उठा तो अन्तःबाह्य सब प्रसाद-सम्पन्न बन गया। उपासक का सम्बन्ध इसीलिए प्राण के साथ है। हमारा दर्शन और श्रवण इसी से निर्मल और शक्तिशाली बनता है। इसी से वाणी को बल मिलता है और ज्ञान-धारा ऊर्जस्वित होती है। अंदर की समवेत ओज शक्ति इसी के द्वारा शुद्ध होकर अपने रूपमें प्रतिष्ठित होती है। श्वास और प्रश्वास, ग्रहण और त्याग, आदान और प्रदान जिन्हें जीवन-संरक्षण की द्विविध साधक क्रियाएँ माना जाता है, इसी अवस्था में अपना कार्य समुचित रूप से करती हैं। मानवता का विकाश इन्हीं तीन काण्डों का विकाश है। यजुर्वेद ३६ वें अध्याय के प्रथम मंत्र में ऋचाओं का सम्बन्ध वाणी से, यजुः का सम्बन्ध मन से और साम का सम्बन्ध प्राण से स्थापित किया गया है, और शरीर की अन्तः बाह्य सभी शक्तियाँ इन्हीं तीनों से विकसित होती मानी गई हैं।

विकास की क्रिया में दोषों का दूरीकरण अनिवार्य है। मानव चाहे जितनी सावधानी रखे, बाहर फैला हुआ प्रपंच और चतुर्दिक व्याप्त वातावरण बराबर उसके ऊपर अपना आघात किया करते हैं। यह आघात उसके वश के बाहर है। सूर्य की ऊष्मा, चन्द्र की शीतलता, अग्नि की दाहकता, वायु की मन्द अथवा तीव्र गति मेरे चाहने और न चाहने की चिन्ता नहीं करती। किसी अदृष्ट शक्ति के हाथ में बँधे हुए ये देव अपना कार्य निरंतर करते रहते हैं। इन सबका प्रभाव मानव के ऊपर पड़ता है। चेतन जगत में मानव स्वयं अपनी क्रियाओं द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। इस क्रिया और प्रति-क्रिया में मानव अपना सहज रूप खो बैठता है। जहाँ वह दूसरों को घायल करता है, वहाँ स्वयं भी घायल होता है। इन घावों को भरना, न्यूनताओं की पूर्ति करना मानव के लिए आवश्यक हो जाता है। ऊपर जिन तीन काण्डों का वर्णन किया गया है, वे विकाश के साथ घावों के भरने में भी अनुपम सहायता देते हैं। परन्तु सबसे बड़ा साहाय्य हमें परमपिता परमात्मा में मिलता है जो न केवल हमारा प्रत्युत समग्र 'जगत का रक्षक' है। उस परम स्वस्थ, उस परम स्वस्तिमय, परम शान्त, परिपूर्ण प्रभु से जब हम सच्चे हृदय से प्रार्थना करते हैं, तो अन्तस्तल के निगूढ़ प्रदेश से, हृदय के अन्ततम कोने से, आत्मा की गंभीर गुहा से निकली हुई हमारी वह मर्मभरी, हृदयस्पर्शी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रभु भुवनपति होने के साथ बृहस्पति भी है। यजुर्वेद के ३६ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में ऐसी ही प्रार्थना आती है। भुवनपति भुवनों का रक्षक है तो बृहस्पति भुवनों एवं धामों सभी का रक्षक है। वह सबसे बड़ा पालक है। उससे बढ़कर अन्य कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है। उसकी कृपादृष्टि के लवलेश मात्र से मानव की निखिल न्यूनता, अखिल अपूर्णता, भारी से भारी छिद्र

और घाव पूर्ण हो जाते हैं, भर जाते हैं और मानव सम्पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है।

दोषों का दमन और सत का संचार मानव को विकाश की ऊर्ध्व स्थिति पर आसीन कर देते हैं। इस स्थिति में उसके हाथों में ऐश्वर्य और अन्तस्तल में दैवी भाव विराजमान हो जाते हैं। उसका ज्ञान और कर्म एक दूसरे से अनुकूलता धारण कर लेते हैं। उसका हृदय स्फटिक के समान स्वच्छ, बुद्धि हीरक ज्योति के समान जगमगाती हुई और आनन्द-कोष से भरपूर हो जाती है। विकाश की यह स्थिति किसके लिए स्पृहणीय नहीं है?

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।

हे बृहस्पते! आप बड़े-बड़े ब्रह्माण्डों के पालक हैं। आपसे बढ़कर और कोई रक्षक नहीं है। आप ही मेरी दर्शन-शक्ति, भावन शक्ति तथा मनन शक्ति की न्यूनताओं तथा घावों को भर दें, पूर दें। हे भुवनों के पति! आप ही मेरा कल्याण करें।



10852

यज्ञ-संस्था

आर्य जाति के अन्तर्गत यज्ञ के सम्बन्ध में एक अतीव महनीय भावना चिरकाल से प्रतिष्ठित चली आती है। यज्ञ शब्द का उच्चारण करते ही एक पवित्र वायुमण्डल सामने आ जाता है जिसमें तपःपूत वैदिक ऋषि यज्ञ की वेदी पर समासीन हो ऋचाओं एवं सामगीतियों का सस्वर पाठ कर रहे हों, घी, कर्पूर, समिधा, हव्य आदि की आहुतियों द्वारा प्रदीप्त अग्नि अपनी सप्त[1] जिह्वाओं को लपलपाती हुई ऊपर उठ रही हो और धूम लहरियाँ; अन्तरिक्ष में फैल-फैल कर दिग्दिगन्त को सौरभ से सुवासित एवं उच्छ्वसित कर रहा हों। पता नहीं किन पवित्र घड़ियों में इस पवित्र यज्ञ-संस्था का आविर्भाव हुआ। इतना निश्चित हैं कि आर्य जाति के इतिहास के प्रारम्भ से लेकर अबतक इसका उल्लेख हमारे साहित्य में बराबर उपलब्ध होता आया है।

यजसंस्था वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड है। शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथों के वर्णन का भी यह प्रमुख अंग है। उपनिषत्कारों ने इसका व्यापक रूप स्वीकार किया है और हमारे षोडश संस्कारों का तो यह आधार स्तम्भ ही है। आर्य जाति का कोई भी कार्य यज्ञ से विरहित नहीं है। हमारी प्रत्येक क्रिया यज्ञ से सम्बद्ध होकर चलती है। साधारण अग्नि-होत्र के रूप में इसका भौतिक पक्ष प्रकट होता है, परन्तु अपने व्यापक रूप में यह भौतिक आधार का अतिक्रमण करती हुई आध्यात्मिक क्षेत्र का पूर्णतया स्पर्श करने लगती है। इसके सम्पूर्ण रूप को समझने के लिये योग-भोग तथा त्याग-राग शब्दों का युग्म अधिक सहायक है।

---

१ काली कराली च मनोजवा च सुलोहिताया च सुधूम्रवर्णा। विस्फु-लिंगिनी विश्वरूपी च देवी लैलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

मुण्डक २–४

योग, याग, त्याग सदृश शब्दों में यज्ञ का महत्त्व छिपा है जो भोग, रोग, राग आदि शब्दों के विरोध में अपनी स्थिति सन्निहित किये हैं।

निरुक्तकार यास्क ने यज्ञ शब्द को यज् धातु से निष्पन्न किया है जिसका अर्थ है—पूजा, संगतिकरण और दान। इन अर्थों पर विचार करने से यज्ञ अतीव व्यापक रूप धारण कर लेता है जिसमें समस्त कल्याणकारी कार्यों की गणना की जा सकती है। पूजा क्या है? मैं कहता हूँ कि अमुक व्यक्ति राम की पूजा करता है या कृष्ण की पूजा करता है, तो इस कथन से मेरा क्या तात्पर्य होता है? पूजा शब्द मानवहृदय की श्रद्धावृत्ति से सम्बद्ध है। जब मैं किसी की पूजा करता हूँ तो उसका भाव यह होता है कि पूज्य व्यक्ति के कुछ गुण मुझे आत्मप्रिय होने के कारण अपनी ओर आकृष्ट करते है। वे गुण मुझे प्रिय हैं, इसका भाव यह है कि मैं उन गुणों को ग्रहण करना चाहता हूँ। इन गुणों को ग्रहण करने के लिये मैं अपने पूज्य व्यक्ति का सामीप्य चाहता हूँ। उपासना शब्द का भी यही अर्थ है—अपने पूज्य व्यक्ति के उप = समीप, आसन = बैठना। इस प्रकार पूजा और उपासना समान नाम (Synonym) अर्थात् एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। पूजा करने से श्रद्धेय, उपासनीय के गुण श्रद्धालु उपासक में आने लगते हैं और अन्त में श्रद्धेय में श्रद्धालु का, उपासनीय में उपासक का, स्वामी में सेवक का, भजनीय इष्टदेव में भक्त का एकीभाव हो जाता है। यही अन्तर्क्षेत्र की प्रगति का गन्तव्य और मानव जीवन की चरम परिणति है। इस प्रगति का एक-एक स्पन्दन, एक-एक क्रिया यज्ञ का स्वरूप है।

संगतिकरण क्या है? संगतिकरण संगठन, सम्मिलन आदि अर्थों का द्योतक है। मनुष्य अकेला रह कर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वह सामाजिक प्राणी है। समाज में रह कर ही उसकी महत्ता प्रकट

होती है। उसका मूल्य-निर्धारण भी समाज ही करता है। अतः उसके लिये संगतिकरण की अनिवार्य आवश्यकता है। इस संगतिकरण में उसकी व्यक्तिगत विषमताएँ दूर हो जाती हैं, जो प्रत्यय अथवा तत्त्व अनुपयोगी और संगठन-विरोधी होते हैं, वे कट-छँटकर उपयोगी और सामञ्जस्य अथवा समरसता के विधायक बन जाते हैं और प्राणी का व्यष्टिरूप समष्टि के अनुकूल बनकर, संस्कृत होकर, अपने और समाज के लिये हितकारक सिद्ध होता है। इस प्रकार संगतिकरण यज्ञ का वह विशद रूप है जिसमें परहित के साथ आत्महित संयुक्त है, विश्व के मम और अन्य, दो प्रधान अंशों का उन्नायक तथा उद्यान करने वाला होने के कारण संगतिकरण अवयान, भोग तथा रोग का एकदम तिरस्कार करता है, और यज्ञ के श्रेयस्कर स्वरूप का निर्देशक है।

दान क्या है? अपनी प्रिय वस्तु दूसरे को देना। जो मुझे प्रिय है वह दूसरे को भी प्रिय प्रतीत हो; जिससे मेरा हित होता है, वह दूसरों का भी हित साधन करे; जो मुझे आह्लाद देती है वह दूसरों को भी आह्लादित एवं आनन्दित करे—दान की इस भावना में आत्मीयता एवं पर-प्रियता एकरूप हो जाती है। दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है। पूर्ण समर्पण इसी का अन्तिम परिणत रूप है। त्याग, उत्सर्ग, बलिदान आदि भावनाओं का ही तो अपर नाम दान है। लोभी एवं कृपण व्यक्ति अपने व्यवहार से स्वयं दुखी होता है और दूसरों को दुखी करता है। उसका हृदय ईर्षा तथा राग-द्वेष की अग्नि से दग्ध होता रहता है। संतप्त व्यक्ति अपने चारों ओर संताप का ही प्रसार करेगा। जो स्वयं घुट-घुटकर मर रहा है, वह अपनी माता, पत्नी, सम्बन्धी आदि सभी को अपनी ज्वाला से जलावेगा। कितना घृणित होता है इस कुत्सित पुरुष का जीवन। दूसरी ओर दानशील व्यक्ति के जीवन में अपूर्व सरसता और शीतलता, स्नेह-प्रवणता और

उदारता, आह्लाद और आनन्द की तरंगें तरंगित होती रहती हैं जिनसे वह स्वयं तो सुखी होता ही है, दूसरों को भी जो उसके सम्पर्क में आते हैं, सुखी करता रहता है। महान् है दान की महिमा। इसी हेतु उपनिषत्कार कहते हैं—जैसे बने वैसे देते रहो।[1] इस प्रकार दान यज्ञ के उत्कृष्ट, आत्म-असंपृक्त, अनासक्त रूप को प्रकट करता है। उसमें देना ही देना है, ग्रहण—परिग्रहण आदि कुछ भी नहीं।

पूजा, संगतिकरण और दान तीनों पर दृष्टिनिक्षेप करने से यज्ञ की महनीयता भलीभाँति व्यंजित हो जाती है। जहाँ ये कार्य दृष्टिगोचर हों, समझ लो, वहीं यज्ञ हो रहा है। शरीर यज्ञ का एक रूप है। विश्व उसका दूसरा रूप है। शरीर-यज्ञ का होता आत्मा है, विश्व-यज्ञ का ऋत्विक् परमात्मा है[2]। जहाँ श्रद्धा है वहाँ यज्ञ है। जहाँ दान है वहाँ यज्ञ है। जहाँ सम्मिलन है, संगठन है, वहाँ यज्ञ है। परोपकार, वापी-कूप-तड़ागादि का निर्माण, उन्नति-कारिणी योजनाएँ, संभूय समुत्थान, शिक्षा संस्थायें सभी यज्ञ का रूप धारण कर लेती हैं। उपनिषद के 'इष्टा पूर्त' शब्दों में इन सभी का समावेश हो जाता है।

ऋग्वेद के प्रथम मंत्र[3] में विश्व-वपु परब्रह्म को पुरोहित, होता और ऋत्विज कहा गया है। यह विशाल विश्व उसका रचा हुआ विराट यज्ञ है जिसमें पूजा, संगतिकरण और दान तीनों तत्त्वों की पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है। सूर्य की प्रचण्डता, सोम की शीतल स्निग्ध ज्योत्स्ना, तारकावलि का झिलमिल प्रकाश, हिमाच्छादित उत्तुंगपर्वत-

---

१ श्रियादेयम् ह्रियादेयम्। श्रद्धयादेयम्, अश्रद्धयादेयम्। भियादेयम्, संविदादेयम्। तैत्तिरीय० ११—३।

२ अयं होता प्रथमः पश्येतमं। ऋ० ६—९—४।

३ अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देव मृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्।

मालिका, कलकल करती हुई सरितायें, झरझर करते हुये झरने, हरीतिमानुरञ्जित वनस्थली, सर्वरोग-निवारिणी-स्वास्थ्य-प्रदायिनी, विविध रूपा वनस्पतियों की अभिरामता आदि न जाने कितने रूपों में उस उदार दानी का दान इस बृहत् ब्रह्माण्ड में बिखरा पड़ा है। फिर जड़ और जंगम, चर और अचर, प्राकृत और चेतन का यह अपार, अनन्त सम्मेलन ! वैज्ञानिक इस अद्भुत संगठन तथा इसके अन्दर फैले हुये विचित्र क्रमबद्ध नियम-नाडी-जाल को देखकर दाँतों तले उँगली दबा कर रह जाते हैं। कितना पूर्ण है यह संगम ! श्रुति इसे पूर्ण से समद्भूत मानती है।[1] वैज्ञानिक भी अब उस पूर्ण नियामक की ओर संकेत करने लगे हैं। इस संगठन के अतिरिक्त पूजा का भाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। जगन्नियन्ता के अटल नियम-चक्र का बोध प्राणियों को तदनुकूल नियमबद्ध जीवन-निर्माण के प्रयत्न में लगाता है तथा नियामक की ओर श्रद्धा-भक्ति आदि पुनीत भावों को ले जाने की प्रेरणा करता है।

यह छोटा-सा शरीर इसी विराट यज्ञ का संक्षिप्त रूप है। 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' वाली संतों की उक्ति का यही अर्थ है। यज्ञ के सामान्य भौतिक रूप, अग्निहोत्र से लेकर दर्श-पौर्णमासेष्टि-राजसूय, अश्वमेध, गोमेध आदि विशेष रूपों तक में यज्ञ का यही व्यापक भाव कार्य कर रहा है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा-यज्ञ के इन चार ऋत्विजों के पृथक-पृथक कार्यों का सम्मिलित रूप ही यज्ञ है। ऋग्वेद की एक ऋचा में[2] इनके भिन्न-भिन्न कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। होता ज्ञानकाण्ड का, अध्वर्यु कर्मकाण्ड का, उद्गाता

---

१ पूर्णात् पूर्णमुद चति। अथर्व १०-८-२९

२ ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः। अ० १०-७१-११

उपासना काण्ड का तथा ब्रह्मा निरीक्षण का कार्य करता है। इन चारों ऋत्विजों का ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के साथ क्रमशः सम्बन्ध है। शरीर में बुद्धि, मन, हृदय और आत्मा क्रमानुसार इनके प्रतीक हैं। इस संगठित कार्य प्रणाली के साथ दान का भी उदात्तरूप इस भौतिक यज्ञ संस्था में दिखलाई देता है। अग्नि रूप मुख में पड़ी हुई सुगन्धित, सुमिष्ट सामग्री की आहुतियाँ अग्नि-मुख तक ही सीमित नहीं रहतीं। अग्नि की भेदक शक्ति उन्हें अनन्त आकाश में व्याप्त कर देती है और वे जन-जन के उपकार में संलग्न हो जाती हैं। कितना पवित्र रूप है यज्ञ संस्था का जिससे लोक-लोक का मानस तृप्त, शरीर स्वस्थ और आत्मा प्रबुद्ध एवं पावन बनता है।

हमारे पूर्वजों ने लोक-हितकारिणी वस्तुओं का सघन विस्तार किया है। उनकी क्रियाओं में सघनता और व्यापकता दोनों हैं। ऋषियों को क्रान्तदृष्टि एवं हित–प्रधान बुद्धि ने यज्ञ को भी भौतिक रूप तक ही आबद्ध नहीं रखा। उन्होंने उसकी परिव्याप्ति मानव के प्रत्येक अंग, उसकी प्रत्येक क्रिया तथा प्रत्येक प्रणाली तक प्रदर्शित की तथा करानी चाही है। श्रुति की निम्नांकित ऋचा में इस सघनता और व्यापकता का अनुभव कीज़िये :—

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्। प्राणोयज्ञेन कल्पताम्। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्। आत्मायज्ञेन कल्पताम्। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्। ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताम्। स्वर्यज्ञेनकल्पताम्। पृष्ठंयज्ञेनकल्पताम्। यज्ञो यज्ञेनकल्पताम् स्तोमश्च, यजुश्च, ऋक्च, साम च बृहच्चरथन्तरञ्च। स्वर्देवा अगन्म अमृता अभूम प्रजापतेः प्रजाअभूम वेट स्वाहा। यजु० १८–२९।

अर्थात् मेरी आयु प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और आत्मा श्रेष्ठतम पुण्य कर्म यज्ञ के लिये समर्पित हों। मेरा वैदिक ज्ञान, प्रतिभा, सुख और मेरा जाना हुआ, पूछा हुआ, परीक्षित विदित विज्ञान सब यज्ञ के लिये

समर्पित हों। मेरा यज्ञ-यज्ञ के लिये समर्पित हो। अथर्व, यजु, ऋक, साम और बृहत रथन्तर सब यज्ञ के लिये हैं। यज्ञ द्वारा ही देवताओं ने सुख प्राप्त किया। वे अमर हुए और प्रजापति की प्रजा बने। मैं भी इस कल्याण कर्म के लिये अपने को समर्पित करता हुँ।

ऋचा में यज्ञ को कितने विस्तृत क्षेत्र तक संचरणशील रूप में चित्रित किया गया है। हमारे स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर तक उसका प्रभविष्णु रूप परिव्याप्त होना चाहिये। हमारे शरीर का एक एक कण, बुद्धि का एक एक प्रत्यय तथा आत्मा का सर्वांग यज्ञ के लिये है। हमारा यज्ञ भी यज्ञ के लिये है—इस भाव में कितनी सघनता अन्तर्हित है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में भी 'यज्ञेन यज्ञमय जन्त देवाः' कहा गया है। यह सघनता और विस्तार, गम्भीरता और व्यापकता युग-युग तक आर्य संस्कृति का मस्तक ऊँचा उठाये रखेगी।

बौद्ध युग के पूर्व तथा उत्तर काल में यज्ञों के अन्तर्गत पशु-बलि[1] भी प्रचलित हो गयी थी, परन्तु इस बीभत्स काण्ड को आर्य जाति बहुत दिनों तक सहन न कर सकी। पशु-बलि तो जहाँ-तहाँ, उसने यज्ञ के स्थूल, भौतिक रूप को भी उतनी प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा। गीता में लिखा है:

"श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ज्ञान यज्ञः परन्तप।"

गीता ने यज्ञ के व्यापक रूप को ही श्रेयस्कर माना है, जिसमें

---

१ यज्ञ में पशु-बलि का आध्यात्मिक अर्थ लेना चाहिये था। भौतिक अर्थ में वह एक घृणास्पद प्रथा है, परन्तु आध्यात्मिक अर्थ में उसका भाव है—मानव के अन्दर छिपे हुए पशुत्व की बलि चढ़ाना। याज्ञिक कर्मों द्वारा ही तो मनुष्य अपने पशुत्व का संहार करके देवत्व प्राप्त करता है। इस भाव में पशुबलि घृणास्पद प्रथा न होकर मानव का संस्कार करने वाली पवित्र प्रणाली बन जाती है।

पूजा, संगतिकरण एवं दान की प्रधानता है। यज्ञ का यही सर्वमान्य और कल्याणकारी रूप है।

यज्ञ के इस पुनीत रूप की जितनी आवश्यकता हमारी जाति को आज है उतनी कदाचित कभी नहीं थी। वैसे तो यज्ञ सर्वदा हमारे साथ लगा रहना चाहिये, क्योंकि वह समस्त स्थिति का हेतु है। उसकी प्रतिष्ठा हमारी प्रतिष्ठा का कारण है। पर मानव अपनी स्वतंत्र उच्छृंखल वृत्ति के कारण व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में समरसता खो बैठता है और परिणामतः सुख से दुख की ओर तथा अमरता से विनश्वरता की ओर उन्मुख हो जाता है। वेद कहता है कि यज्ञ के द्वारा देवताओं ने सुख प्राप्त किया। वे अमर हुए और प्रजापति की प्रजा बने। परन्तु हम अपने ही कवियों, ऋषियों, पूर्वजों द्वारा प्रचलित की हुई यज्ञसंस्था का परित्याग करके कम से कम एक सहस्राब्द से दुख उठा रहे हैं। आज तो हमारे बच्चे पुष्टिदायक भोजन ही नहीं, सामान्य शरीर-स्थिति-कारक भोजन के लिये भी तरस कर रह जाते है। आर्य जाति के घोर शारीरिक एवं मानसिक ह्रास को देखकर चिन्तनशील विचारक उसके अविकल्पनीय विनाश की सम्भावना करने लगे हैं। विश्व की उठती हुई जातियों के बच्चे अपने वंश के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने में लगे हैं और हम अपने ही हाथों अपने वंश का विनाश करने पर तुले हैं। जापान के ८ करोड़ और जर्मनी के ९ करोड़ निवासियों का जितना मूल्य है उसका सहस्रांश भी हमारे देश के ४० करोड़ निवासियों का नहीं। क्या इसका कारण कोई बाह्य शक्ति है? कभी नहीं। इसके कारण तो हम स्वयं हैं। 'आत्मैव आत्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः' मनुष्य अपना मित्र और शत्रु स्वयं ही बनता है। न हम अपनी स्थिति-विधायिनी संस्कृति की विशेषताओं को छोड़ते और न आज के दुःख एवं विनाश के स्थिति-विघातक गह्वरगर्त में गिरते। वेद कहता

है—'यज्ञ के द्वारा देव प्रजापति की प्रजा बने'—पर सबका शासन प्रजापति के हाथों में क्यों नहीं होता ? वे क्यों इस देन से वंचित हैं ? उनका शासनसूत्र प्रजा का पालन करने के स्थान में प्रजा का शोषण एवं भक्षण क्यों करता है ? क्या कभी शान्त चित्त होकर हमने इस समस्या पर विचार किया है ? क्या इतिहास-पुराण का पारायण मानव की संहारकारिणी, पापमयी कृतियों पर प्रकाश नहीं डालता ? और पुरातन ही क्यों ? क्या आज का प्रत्यक्ष दैनिक जीवन मानव की स्वार्थ-परायण वृत्तियों को प्रकट नहीं करता ?

यज्ञ संस्था कल्याणकारिणी संस्था है। इसका व्यापक रूप संकुचित स्थार्थ का संहार करना है। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, यज्ञ-याग त्याग समानार्थक शब्द हैं। जिसने समष्टि के लिये अपने व्यष्टि को, व्यक्तिगत रूप को विलीन करना नहीं सीखा, जिसने त्याग का—बलिदान का—पुनीत पाठ नहीं पढ़ा, वह अपने व्यष्टि का कल्याण नहीं कर सकेगा। और यदि कहीं समाज का अधिकांश भाग व्यष्टि व्यष्टि चिल्लाने लगे और तदनुकूल कार्य करने लगे, तो वह समाज एक दिन दुःख, विनाश एवं भक्षण का भाजन बनेगा ही। जो व्यक्ति एवं जाति त्याग, दान, संगठन और अनुकरणीयों का अनुकरण (पूज्यों की पूजा) करना नहीं जानते, वह अपने विध्वंस को अपने आप निकट बुला रहे हैं। आर्य जाति कुछ शताब्दियों से भयंकर स्वार्थ-लिप्सा की शिकार हो रही है। इसका संगठन अस्त-व्यस्त है। विभेदकता की भयावह भीतियाँ इसके एक अंग को दूसरे अंग से पृथक् किये हुये है। व्यक्ति को सामूहिक बल से वंचित कर दिया गया है। हम आपस में ही छीना-झपटी, लूट-खसोट, मचाये हुये हैं। अपने संकीर्ण स्वार्थों को छोड़कर हमें दूसरों के, अपने ही बन्धुओं, सगे सम्बन्धियों के स्वत्वों का ज्ञान-ध्यान नहीं रहा है। 'मेरौ पेट हाऊ

और मैं न देऊँ काऊ' की लोकोक्ति हमारी अधिकांश जनता की रग-रग में बिंध गयी है और उसका परिणाम–दुःख, विनाश एवं विकराल अकाल मृत्यु के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है।

यदि हम चाहते हैं कि विश्व की एक महान् जाति, हम आर्यों का विशाल वंश जीवित रहे, वह सुख-उत्सव-प्रसन्नता एवं आह्लाद का अनुभव करे तथा उसका शासन प्रजापालक के रूप में हो तो हमें यज्ञ-संस्था की नये सिरे से दीक्षा लेनी पड़ेगी। हमें जाति की रक्षा के लिये अपनी संकीर्ण स्वार्थ वृत्ति का संहार करना होगा। हममें से प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर यज्ञ का यह भाव भर जाना चाहिये कि हम इस विशाल आर्य वंश के केवल अंग रूप हैं। जैसे शरीर का अंग शरीर की स्थिति से सत्तावान है, उसी प्रकार जाति की स्थिति से मेरी सत्ता, स्थिति है—यदि एक एक व्यक्ति इस शुभ भाव को आचरण में परिणत करने का प्रयत्न करता है, तो वह दिन दूर नहीं, जब सामूहिक रूप से आर्य जाति इस यज्ञिय, कल्याण पथ का अनुसरण करती दिखलाई देगी। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में लिखा है :—

'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।' यदि हम मृत्युरूप दुखद अवस्था से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें अपनी तथा जाति की रक्षा के लिये, स्वाधीनता का वास्तविक सुखमय जीवन प्राप्त करने के लिये अपनी अहन्ता तथा संकीर्णता का विनाश अर्थात् त्याग करना ही पड़ेगा। आत्मा के अमरत्व की उच्च स्वर से घोषणा करने वाली जाति के बच्चे क्या विनश्वरता का पाठ पढ़ने के लिये उत्पन्न हुये हैं? यज्ञ में आहुति देकर होता बोलता है 'इदमग्नये इदन्न मम' हम भी यज्ञ करते हुये बोलें :—इदं शरीरं आर्य संस्कृति रक्षणाय इदन्न मम'। भगवान् हमें त्याग के, यज्ञ के, इस मंगलमय पथ पर अग्रसर करे।

यज्ञ और शान्ति

शारीरिक क्षेत्र में सुख बाह्य तथा शान्ति आन्तरिक है। सुख का अर्थ है—सु = अच्छी तरह से, ख = इन्द्रियों का रहना। पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय जिस दशा में अच्छी तरह रह सकें, तृप्ति अनुभव कर सकें, वह दशा सुख की दशा है। शान्ति मानसिक है। मन जब तृप्ति का अनुभव करता है, उद्वेगों से विचलित नहीं होता, तभी वह शान्त कहलाता है।

शान्ति व्यक्तिगत तथा सामूहिक दो प्रकार की होती है। यद्यपि व्यक्ति तथा समूह अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी इतिहास ने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जब एक व्यक्ति अत्यन्त आन्दोलित एवं अशान्त समाज के अंदर रहते हुए भी शान्तिपूर्वक अपनी जीवनचर्या व्यतीत करता रहा है। परन्तु इन्हें हम अपवाद कह सकते हैं। सामान्यतः आन्तरिक शान्ति के सम्बन्ध में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर अवलम्बित रहते ही हैं। अपनी दैनिक शान्ति-प्रार्थनाओं में हम अपनी व्यक्तिगत शान्ति का सम्बन्ध इसी आधार पर द्यावा-पृथ्वी से लेकर जड़ एवं चेतन विश्वेदेवों के साथ संयुक्त करते हैं। मेरा मन शान्त तभी रह सकता है, जब मेरे चारों ओर का वातावरण अशान्ति-रहित हो। यदि बाहर अशान्ति है, तो अंदर शान्ति नहीं रह सकेगी। वैदिक संस्कृति में व्यक्तिगत एवं सामूहिक यज्ञ-भावना इस शान्ति का मूल आधार मानी गई है।

हमारा शरीर स्वयं एक यज्ञ है। इसमें वेदी है, ऋत्विक् है, यजमान है और, यज्ञ करने की समस्त सामग्री भी। अथर्ववेद २-३५-५ में लिखा है :—

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

मानव जीवन रूपी यज्ञ का सम्पादन चक्षु और मुख से होता है। साधन सामग्री का चयन करना इन्हीं का काम है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, सुनता हूँ और मनन करता हूँ, इस सबके रूप में मानो मैं यज्ञ ही कर रहा हूँ। इस यज्ञ का विस्तार करने वाला स्वयं ईश्वर है। इस यज्ञ में देव प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश करें।

जिस प्रकार यह व्यष्टि रूप जीवन यज्ञ है, उसी प्रकार यह समष्टि रूप जगत् भी यज्ञ है, इस यज्ञ का विस्तार प्रभु ने किया है। श्री मद्भगवद्गीता इसी तथ्य की पुष्टि करती है —

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ ३–१० ॥

प्रभु ने यज्ञ के साथ ही प्रजा को उत्पन्न किया है। यही यज्ञ प्रजा की वृद्धि और कामनाओं की पूर्ति करने वाला है। इस उक्ति में सुख और शान्ति दोनों आ जाते हैं। कामनाओं की पूर्ति में सुख है और वृद्धि शान्ति की अवस्था में ही सम्भव है। ऊपर अथर्ववेद के मंत्र में देवों का यज्ञ में आने के लिए आह्वान किया गया है। ये देव व्यक्तिगत जीवन में दैवी भाव हैं, और जगत् में जड़ एवं चेतन दिव्य शक्तियाँ हैं। मानव जीवन में जब दैवी भाव अथवा दिव्य विचार प्रवेश करते हैं, तो यह व्यक्तिगत जीवन-यज्ञ सफलता को प्राप्त करता है और उसी समय शान्ति का अनुभव होता है। सामूहिक अथवा जागतिक यज्ञ में जब दिव्य शक्तियाँ अथवा दैवी गुण धारण करने वाले प्राणी बाहुल्य से दृष्टिगोचर होने लगते हैं, तो विश्व में शान्ति का वातावरण छा जाता है और प्रजा धन-धान्य एवं समृद्धि से समृद्ध हो जाती है।

इस प्रकार दिव्यता की उपलब्धि, दैवी गुणों और भावों का आगमन, देवों को उपस्थिति व्यक्तिगत एवं जागतिक शान्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। यदि व्यक्ति दिव्य भावों की ओर आकर्षित होता है, और जगत् देवों को अपनाता हुआ उनका सम्मान करता है, तो वे दैवी भाव और देव व्यक्ति एवं जगत् दोनों के ऊपर सुख एवं शान्ति की वर्षा करते हैं। परन्तु जब व्यक्ति और जगत् इसके विपरीत पथ का अनुसरण करते हैं, तो उन्हें अशान्ति एवं कलह का ही विषाक्त घूँट पीना पड़ता है। गीता (अध्याय ३ श्लोक ११ और १२ में) स्पष्ट संकेत करती है कि देवों को प्रसन्न करना ही श्रेय-प्राप्ति का एक मात्र कारण है। सुखभोग भी देवताओं, दिव्य शक्तियों, दैवी गुणों और भावों के आगमन पर ही अवलम्बित हैं। वही इनके देनेवाले हैं।

यह दिव्यता कैसे आती है? गीता कहती है: केवल अपने आप ही सब कुछ मत खा जाओ। जो अपने लिए ही पकाते हैं वे मानों पाप का भक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में यज्ञ करो। यज्ञ के पश्चात् जो बचे, उसे खाओ, तो पाप से बच जाओगे, और दिव्यता की ओर प्रयाण करोगे। ऋग्वेद १०-११७-६ में भी यही कहा गया है :—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता, सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।' जो व्यक्ति यज्ञ द्वारा न तो अर्यमा आदि देवों का पोषण करता है और न अपने सखाओं की ही सहायता करता है, वह अकेला खानेवाला मनुष्य केवल पाप को ही खानेवाला है। इसके पूर्ववाले मंत्र में और भी स्पष्टतापूर्वक कहा गया है कि मनुष्य को जो धन प्राप्त हुआ है, उसे वह अपना न समझे। लक्ष्मी आजतक किसी की भी जीवनसंगिनी नहीं बन सकी। जैसे रथ के पहिए बराबर घूमा करते हैं, वैसे ही धन आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास चला जाता है। धन की इस अस्थिर अवस्था को अनुभव करके मनुष्य

को चाहिए कि वह उपयुक्त याचक को अपने धन का कुछ भाग अवश्य दे दे। अपनी तात्कालिक होती हुई हानि का भी कुछ विचार न करे, प्रत्युत इस सम्बन्ध में जीवन-पथ की विशालता को ध्यान में लावे।[1]

अथर्व वेद २-३५-१ में दुरिष्टि = दुर्यज्ञ और स्विष्टि = सुयज्ञ का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

ये भक्षयन्तो न वसूनि आनृधुः, यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः। या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥

जो मनुष्य केवल खाते चले जाते हैं, उनके खाने से जो कमी हो जाती है, उसकी पूर्ति नहीं करते अर्थात् जो भोजन-सामग्री तथा धनधान्य की वृद्धि करने में नहीं जुटते-जो केवल खाऊ हैं, कमाऊ नहीं, उन्हें भोजन उत्पन्न करने वाली अग्नि आदि दिव्य शक्तियाँ संतप्त करती हैं।—क्योंकि वे सुन्दर यज्ञ की साधना नहीं कर रहे—उनका अकेले भोजन-भोग करना दुर्यजन है। यह दुर्यजन ही पाप की जड़ है, दिव्यता का घातक है और अशान्ति का कारण है।

अतः दिव्यता की प्राप्ति यज्ञ कर्म से ही सम्भव है। यज्ञ कर्म में प्रमुखता त्याग की है। कोरे भोगवादी व्यक्ति, देश और समाज, दिव्यता के स्थान पर आसुरी भावों के पोषण करने वाले हैं और इसी हेतु अशान्ति में स्वयं पड़ते हैं तथा दूसरों को डालते हैं। शान्ति का साधन यज्ञ है, त्याग है, परोपकार है। अपने को ही विश्व का केन्द्र समझ कर जो व्यक्ति संग्रह में लगा हुआ है, अथवा जो धनी होकर अपने सेवकों, श्रमजीवियों के शोषण करने पर तुला हुआ है—वह यज्ञ नहीं कर रहा, पाप कर रहा है। विश्व की अशान्ति का वही एकमात्र कारण है।

---

१. पृणीयात् इत् नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसं अनुपश्येत् पंथाम्। ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुपतिष्ठन्तरायः ॥ ऋ० १०-११७-५

जब मानव तथा समाज भोग के साथ योग अथवा यज्ञ भी करता है, तब उसका दुर्यजन, सुयजन में परिवर्तित होता है। ऐसे भी विप्र हैं, देव हैं जो भोगों के स्थान पर यज्ञ की ही शाश्वत रूप से साधना किया करते हैं। जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए ही जीवन धारण करते हैं—वे यज्ञिय जीवन व्यतीत करनेवाले महामानव इस नीरस, बंजर तथा उजड़े संतप्त जगत को सरस, उपजाऊ, उर्वर और शीतल बना देते हैं। इन्हीं के कारण दैन्य के स्थान पर समृद्धि, क्लेश के स्थान पर सुख और अशान्ति के स्थान पर शान्ति की स्थापना होती है। पद-दलित, शोषित एवं म्रियमाण जातियाँ इनके जीवन को पाकर जीवित हो उठती हैं। अंधकार में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है और अभिनव चेतनता की लहरें जड़ीभूत जगत के अंदर संचरित हो उठती हैं। यज्ञ के प्रथम धाम, मूलरूप को ऐसे ही दैवी दूत समझ सकते हैं और समझ कर दूसरों को उसका ज्ञान करा सकते हैं। ऋ० १०-६७-२ में ऐसे महामानवों की संज्ञा अंगिरस बतायी गई है। ये अंगिरस सत्य के प्रशंसक, सत्य-वक्ता, सरल ध्यानी, द्यौ के वीर पुत्र और विप्र अर्थात् ज्ञानी होते हैं।

जिस दिन कोई समाज अथवा देश इस प्रकार के अंगिरस विप्रों को जन्म देगा, उसी दिन वह सुख एवं शान्ति का अनुभव कर सकेगा। शान्ति का मुख्याधार यज्ञ है और उस यज्ञ के जानने वाले अङ्गिरस देव हैं। इनके अभाव में अशान्ति है और इनका दर्शन ही शान्ति का स्रोत है।



यज्ञ से मूर्ति-पूजा तक

पांचरात्र और वैखानस साहित्य की एक प्रमुख विशेषता मन्दिर-निर्माण और देव-विग्रह की पूजा-पद्धति है, जिसे सामान्यतया मूर्ति-पूजा कहा जा सकता है। मूर्ति-पूजा इस देश में कब और कैसे प्रारम्भ हुई, इस सम्बन्ध में विद्वज्जन एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के मत में मूर्ति-पूजा की पद्धति हमने विदेशियों से ग्रहण की है। सम्भवतः यूनान और मिश्र दो ऐसे प्राचीन देश हैं जो बहु-देव-वाद में विश्वास रखते थे और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। इन देशों से जब भारतीय सम्पर्क बढ़ा, तब इनकी प्रतिमा-पूजन की प्रथा भी इस देश में आई और सर्वप्रथम जैन मतानुयायियों ने इनके अनुकरण पर अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मंदिरों में प्रतिष्ठित कीं। जैन धर्म वालों से मूर्ति-पूजा की यह पद्धति शैवों, भागवतों और महायानी बौद्धों ने ग्रहण की। कुछ विद्वान गणेश देवता को चीनी संस्कृति से प्रभावित मानते हैं। शिव भी सैमेटिक देवता माने जाते हैं। शीतला देवी द्रविड़ संस्कृति की देन हैं, और नाग-पूजा तथा कुबेर-पूजा यक्ष संस्कृति से विकसित हुई है। हमारी धारणा इसके विपरीत है। मूर्ति-पूजा हमें इसी देश की विकसित संस्था प्रतीत होती है।

वेद में ऋत और सत्य दो नियमों का प्रायः उल्लेख मिलता है। हमारे ऋषियों ने इन्हीं नियमों के सतत सम्पर्क से प्रभावित होकर यज्ञ-संस्था की नींव डाली। वैदिक वाङ्मय सृष्टि के मूल में विद्यमान याज्ञिक प्रक्रिया की सूचना देता है। ऋग्वेद ने—'यज्ञस्यधामप्रथमंमनन्त' कह कर सृष्टि की सर्वप्रधान क्रिया यज्ञ का ही उल्लेख किया है। गीता-३-

१० में भी प्रजा की सृष्टि यज्ञ के साथ ही मानी गई है और आदेश दिया गया है कि हम सब इसी यज्ञ के द्वारा आगे बढ़ें। यज्ञ ही हमारी इष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाली है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ सम्बन्धी विविध अनुष्ठानों का वर्णन है। यज्ञ अपने मूल रूप में आध्यात्मिक थे, परन्तु कालान्तर में उनका भौतिक अथवा द्रव्यमय रूप हिंसा-प्रधान हो गया। ब्राह्मणकाल के ऋषि उसे पुनः वास्तविक अध्वर अर्थात् हिंसारहित रूप देना चाहते थे। पशु-मांस-लिप्सु भौतिकतावादी याज्ञिकों और सात्विक प्रवृत्ति वाले अहिंसा-प्रधान ऋषियों में पर्याप्त संघर्ष रहा है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में राजा वसुउपरिचर और उनके पुरोहित बृहस्पति इसी प्रसंग को लेकर विवाद-रत दृष्टिगोचर होते हैं। इसी आधार पर स्वयं वेदानुयायियों में प्रवृत्ति मार्गीय और निवृत्ति मार्गीय दो दल हो गए।

निवृत्ति-पथ-गामियों ने वेद के नाम पर चलने वाले हिंसाप्रधान यज्ञों का बहिष्कार किया पर वे जनता को अपनी ओर कैसे आकर्षित करें, यह उनके सामने एक समस्या रही होगी। यज्ञ-निर्माण की जो विधियाँ तत्कालीन साहित्य में वर्णित हुई हैं, वे अनेक अलंकारों से संयुक्त हैं। इन अलंकारों ने जनता को निस्संदेह आकर्षित किया होगा। वैष्णवों की पांचरात्र और वैखानस शाखाओं में यज्ञों का वह अलंकृत रूप स्वीकृत नहीं हुआ, जिसने बृहस्पति जैसे पुरोहित को हिंसा के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने इन याज्ञिक विवरणों में से जो उपकरण उपलब्ध किए उनसे मन्दिर-निर्माण तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठान का रूप विकसित हुआ। हिंसा-प्रधान यज्ञों का बहिष्कार करते हुए इन्होंने द्रव्यमय यज्ञों से अपने को एकान्त पृथक् कर लिया। अहिर्बुध्न्य तथा ईश्वर संहिताओं में जो पांचरात्र साहित्य के अन्तर्गत हैं और वैखानस आगम में मंदिर-निर्माण सम्बन्धी जो विस्तृत विवरण आते हैं और प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा

एवं पूजा-विधि से संबन्धित जिस विस्तृत क्रिया-कलाप का वर्णन है वह बहुत कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार का यज्ञ-सम्बन्धी विवरण हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अतएव हमारी सम्मति में मूर्ति-पूजा का मूल रूप यज्ञों के ही अन्तर्गत है। यज्ञ-संस्था ही विकसित होती हुई अपनी हीनताओं के परित्याग एवं अलंकृत प्रसाधन सामग्री के ग्रहण द्वारा मूर्ति-पूजा के रूप में परिणत हो गई है। यद्यपि प्राचीन हिंसक पुरोहितों के समान शाक्त मतानुयायियों ने अपनी इष्टदेवी काली की मूर्ति पर पशु-बलि चढ़ाकर मूर्ति-पूजा को भी रक्तरंजित कर दिया परन्तु मूर्ति-पूजा का वैष्णव रूप परम सात्विक और अहिंसा-प्रधान ही रहा है।

शतपथ ब्राह्मण ११-१-८-३ में यज्ञ को प्रजापति की प्रतिमा कहा गया है। यज्ञ-संस्था वस्तुतः सृष्टि के ऋत एवं सत्य नियमों का मूर्तरूप है। हमारे ऋषियों ने मूर्त सत्ता के अंतस् में विद्यमान तथा उसके संचालक अमूर्त तत्त्व के दर्शन किए हैं, तथा अमूर्त को उसकी नाना शाखाओं में फूटते हुए और मूर्त रूप धारण करते हुए भी देखा है। ओंकार अक्षर से उनचास स्वर एवं व्यञ्जन निकलकर विपुल वाङ्मय को जन्म देने वाले बने। ऋत से सत्य, प्राण से रयि, नाद से बिन्दु, और नाम से रूप की जो समानान्तर सृष्टि हुई, शब्द के साथ अर्थ की जो विविध व्यञ्जनाएँ समकक्ष गति से चलीं, स्वर की ध्वनि-तरंगें सूर्य की सतरंगी लहरों से रंग ग्रहण करती हुई नानामूर्त शक्तियों में किस प्रकार नृत्य करने लगीं, इन सबकी बड़ी सूक्ष्म खोज हमारे ऋषियों की पारदर्शिनी बुद्धि ने की है। मूर्ति-निर्माण के मूल में भी कुछ ऐसी ही प्रक्रिया है। हम अपनी कल्पना अथवा प्रातिभ शक्ति द्वारा जिन गुणों का आभास पाते हैं और जिन दिव्य शक्तियों का उनके सगुण परन्तु अमूर्त रूप में अनुभव करते हैं, उनका एक रूप

भी कालान्तर में हमारे सामने बन जाता है। वाणी जिस गुण का नाम-विधान करती है, नेत्र उसी का एक रूप-विधान भी प्रस्तुत कर लेते हैं। इस प्रकार अनयन गिरा और अवाक् नेत्र परस्पर सहयोगी बनकर ऐसा कार्य सम्पादित करते हैं जो अन्तः को बाह्य से और बाह्य को अन्तः से संयुक्त कर देता है। इसी आधार पर वैदिक ऋषियों ने सृष्टि में निहित यज्ञ की अमूर्त भावना को अलंकृत-वेदी-सम्पन्न तथा विविध प्रकार के सुसज्जित कुण्डों से युक्त साकार यज्ञ-संस्था का रूप प्रदान किया और फिर याज्ञिक विवरणों के आधार पर उन्हीं के स्वरूप की व्याख्या करने वाले और उन्हीं की अलंकृतियों को विकसित रूप प्रदान करने वाले देवालयों को भी जन्म दिया। यह भी सत्य है कि काल के कराल चक्र ने देवालयों के निर्माण में निहित अन्तस्तत्त्व का विध्वंस कर दिया। भागवतकार के शब्दों में सब भूतों में विद्यमान ईश्वर को छोड़ कर हम अपनी मूर्खता से प्रतिमा को ही सब कुछ समझने लगे, यह भस्म में आहुति डालने के समान था (३, २९, २२)।

यज्ञ-संस्था से विशिष्ट मूर्तियों का निर्माण किस प्रकार हुआ ? इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए। यज्ञों के विवरणों में यज्ञ-भूमि का शोधन और उसके पश्चात् इष्टिकाओं का निर्माण और चयन आवश्यक तत्त्व माने गए हैं। निर्माता की बुद्धि को भी मंत्र-जाप द्वारा भावित कर पवित्र किया जाता था। इष्टिकाओं से त्रिकोण, ताम्बूलाकार, समकोण, वर्गाकार, वृत्ताकार, पद्माकार तथा अन्य कई प्रकारों के कुण्डों का निर्माण होता था। वेदी बनती थी और उस पर विविध प्रकार की अलंकृतियाँ रची जाती थीं। प्रणव अर्थात् ओ३म् अक्षर को भी चित्रों द्वारा वेदी पर चित्रित किया जाता था और सौर-मंडल के ग्रहों को तथा ब्रह्माण्ड की आकृति को वेदी पर अक्षत आदि द्वारा अंकित कर ब्रह्माण्ड के विधान को समझाने का प्रयत्न किया

जाता था। किसी न किसी रूप में ये बातें आज भी परम्परा द्वारा प्राप्त यज्ञ-वेदी की रचना में प्रकट की जाती हैं। हमारे घरों में मांगलिक अवसरों पर जो स्वस्तिका का चिह्न द्वार-दीवारों पर बनाया जाता है वह उसी ओ३म् अक्षर का प्रतीक है। यह भी असम्भव नहीं है कि जिस गणेश का पूजन समस्त पौराणिक कृत्यों के प्रारम्भ में होता है वह अपने मूल रूप में ओंकार की ही मूर्ति रहा हो। श्री कृष्ण की जिस त्रिभङ्गी मुद्रा का दर्शन हम प्रायः चित्रों में करते हैं वह ओंकार का ही विकसित रूप है। ओंकार से ही इस विराट् ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। अतः इस मुद्रा को विराट ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप भी कहा जा सकता है। तांत्रिकों में ओंकार का रूप ॐ है। हमारी सम्मति में ओंकार लेखन का यही रूप प्राचीन है, एवं अरबी में लिखित अल्लाह इसी का प्रतिरूप है।

यज्ञ में सामग्री, घी, मिष्ठान्न आदि की जो आहुतियाँ दी जाती हैं उनसे हवन-कुण्ड के अन्दर पर्वत-शिखर की भांति ऊपर को उठती हुई एक पिण्डी बन जाती है। इस पिण्डी का आकार शिवलिंग के समान होता है। महादेव की मूर्ति की कल्पना इसी पिण्डी के आधार पर की गई है। शिव की योगेश्वरी मूर्ति, जिसकी जटाओं में गंगा और ग्रीवा में सर्पों की माला है, यज्ञ के इसी रूप से निर्मित हुई है। यज्ञ-कुण्ड से धधकती हुई ज्वाला की जो लपटें ऊपर को उठती हैं वे सर्प और उसके फन को मुद्रित करती हैं। घी की जो आहुतियाँ इन लपटों के ऊपर पड़ती हैं, वे आकाश से उतरती हुई और शिव की जटाओं में निवास करती हुई देवापगा गंगा की जलधाराएँ हैं। महादेव-पूजा का मूल रूप लिङ्ग-पूजा ही है, जो एक ओर यज्ञ की पिण्डी का प्रतीक है और दूसरी ओर शून्य का, जिसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्तकार ने सत् और असत् दोनों से विलक्षण कहा है। शून्य गणित शास्त्र का भी

बीजाक्षर है। महादेव की इस लिंगमूर्ति को जिस वेदी पर समासीन किया जाता है उसकी आकृति यज्ञ-कुंड के समान ही है। हवन कुण्ड की परिखा, जो वेदी के ऊपर बनी होती है वही शिवलिंग के चारों ओर बनी हुई जलधारी है। शिवलिंग के ऊपर डाला हुआ जल इस वेदी के जिस द्वार से बाहर जाता है वह यज्ञ-वेदी का घृत डालने वाला स्थान है। मन्दिरों का निर्माण भी इसी यज्ञ-वेदी का अनुसरण करता है। मंदिर के अन्दर जिस सिंहासन पर मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है वह कुण्ड है और उस कुण्ड में सामग्री की पिण्डी सिंहासन पर बैठी हुई मूर्ति है। यज्ञ-वेदी की परिखा मंदिर की परिक्रमा या प्रदक्षिणा वाला पथ है।

वेद के ऋत और सत्य ही अग्नि और सोम हैं और यही पुराणों के रुद्र और विष्णु हैं। विष्णु सोम के प्रतिनिधि हैं तो रुद्र अग्नि के। पुराणों ने इसीलिए विष्णु को रक्षक और रुद्र को अग्नि के समान संहारक रूप दिया है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ वसुओं की प्रतिनिधि हैं; परन्तु रुद्र साक्षात् अग्नि का ही रूप हैं। अग्निहोत्र के अन्त में 'वसोः पवित्रमसि' मंत्र द्वारा सामग्री की पिण्डी पर जो सहस्र धाराओं में घी डाला जाता है वही महादेव के लिंग के ऊपर लटके हुए कलश से टपकती हुई सहस्रों बूँदें हैं। मंत्र में आठ वसुओं को पवित्र करने वाले अग्निदेव कहे गए हैं तो रुद्र की आठ मूर्तियों के बीच में बैठी हुई रुद्र की साक्षात् मूर्ति को पवित्रकारक पावक कहा ही जाता है। यज्ञ के साथ जो पशु बांधा जाता है वही महादेव का वृषभ है। निरुक्त में 'त्रिधाबद्धोवृषभोरोरवीति' की व्याख्या में शब्द को भी वृषभ की संज्ञा प्राप्त है।

पौराणिकों में जिस पंचायतन पूजा का प्रचार है, उसमें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की मूर्तियाँ होती हैं। 'रामायतन में भी

चारों भाइयों के साथ सीता की मूर्ति इन्हीं पंचदेवों के समकक्ष है। पंचदेव भी विश्व की उदात्त शक्तियों के प्रतीक हैं और उनकी मूर्तियों की कल्पना उनके गुणों के आधार पर की गई है। पांच रात्रों का चतुर्व्यूह भी सांख्य के प्राकृतिक तत्त्वों का ही प्रतिरूप है।

शतपथब्राह्मणकारने ब्रह्म को ही नाम और रूप के द्वारा इस परार्ध के लोकों में व्याप्त हुआ माना है (११-२-३-३)। अव्याकृत और अनिरुक्त ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड द्वारा व्याकृत और निरुक्त हुआ है। मूर्तियों में रूप है। जिस दिन मूर्ति-पूजा के द्वारा मानव दैवी तत्त्वों तथा गुणों की आराधना करने लगेगा अथवा आकार से यज्ञ और यज्ञ से प्रभु तक पहुँचेगा उसी दिन वह कल्याण का केन्द्र बन सकेगा।

भृगु ने अपने पिता वरुण से इसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण की थी। वे अन्न को ही ब्रह्म समझते थे, पर धीरे-धीरे अन्न जैसे साकार पदार्थ से सूक्ष्म तत्त्व की ओर अपने मन को प्रेरित करते गये। अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि या विज्ञान और विज्ञान से वे आनन्द तक पहुँच गये। परम तत्त्व या ब्रह्म आनन्दमय है। आर्य प्रणाली सत से ऋत तक चलती है। अन्त में ऋत के तन्तु को भी चीर कर उस परात्पर तत्त्व तक पहुँचा देती है जिसे परम आत्मा कहा जाता है। मूर्ति या विग्रह की पूजा से भी हमें यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।



वैदिक विकास पद्धति

जीवन पल-पल में ह्रास को प्राप्त हो रहा है। प्रकृति एक दिन इसे अपने में मिला लेगी, पर यह इतना बलवान है कि यह उसमें मिल कर भी फूट पड़ेगा। यह क्रम बराबर चलता रहेगा जब तक इसे विकास का मार्ग दिखाई न देगा। वस्तुतः यह विकास-पद्धति की खोज में ही ह्रास, विलय तथा पुनः प्राबल्य के अलातचक्र में पड़ा रहता है। इस चक्र में भोग और उस भोग के अनुकूल कर्मसंहति चलती रहती है। भोग के स्थान पर जब यह तपश्चर्या को वरण करता है, तभी विकास का प्रारम्भ होता है।

तपश्चर्या द्वन्द्व-सहन के साथ संयम विशेष का नाम है। संयम में हम बाहर के भोगों से विरत होते हैं जिनमें शारीरिक भोगों की प्रमुखता है। इन भोगों में सर्व प्रथम आहार आता है। कुछ व्यक्ति एकादशी के दिन अन्न का सेवन नहीं करते। कुछ ऐसे हैं जो रविवार को लवणविहीन एकाहार करते हैं। कोई मंगल का व्रत रखते हैं, कोई त्रयोदशी का, पूर्णिमा का अथवा अमावस्या का। कुछ व्रत सामाजिक भी हैं। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तथा शिवरात्रि के व्रत आर्य जाति में सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं। इन व्रतों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर को आहार न मिलने से अँतड़ियों को थोड़ी देर के लिये आराम मिल जाता है और जो भोजन पच नहीं पाया था, वह पच जाता है। भोजन के बाद जो भारीपन या प्रमाद की अवस्था आती है, वह भी नहीं आ पाती। आलस्य के अभाव में शरीर की कार्य-शक्ति भी तीव्र हो जाती है। उद्वेगों के वेग पूर्णतया शान्त नहीं तो कम तो हो ही जाते हैं। मन की चंचलता पूर्व जैसी नहीं रहती। विकास के लिये ये सभी परिस्थितियां

लाभकारी हैं। इनसे शरीर शुद्ध बनता है, वासक शक्तियों से संयुक्त होता है तथा दिव्यता की ओर प्रयाण करता है। वेद इसी हेतु कहता है :—

योऽग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति। तस्मा इद्दीदयद् वसु।

जो मानव शरीर के दमन द्वारा परमगति, परम ज्ञान एवं परम प्रकाशरूप देव की पूजा करता है, उसके लिये वसु, वासक तत्त्व, धन या ऐश्वर्य चमक उठता है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्त तनूर्न तदामो अश्नुते, शृतासइद्वहन्तः तत्समाशत॥

प्रभु ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं। उनकी पवित्रताकारिणी, नैर्मल्य-विधायिनी शक्ति चारों ओर फैली हुई है। वह हमारे शरीरों को सब ओर से परिव्याप्त किये है। पवित्रता की इस पावक में, विमलता की इस वह्नि में डाल कर जिसने अपने शरीर को तपा नहीं लिया, जो कच्चा ही बना रहा, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाता। जो पक जाता है, तप की भट्टी में डाल कर शरीर को कुन्दन बना लेता है, वही कार्यभार को वहन करता हुआ, कर्तव्यपालन करता हुआ, उस प्रभु को प्राप्त करता है।

हठयोगी इस शारीरिक सिद्धि को आसन द्वारा चरितार्थ करते हैं जिससे वे इस स्थूल शरीर को घण्टों एक ही स्थान पर एक ही स्थिति में बिठाये रखते हैं। शरीरका यह संयम ध्यानमें सुकरता उत्पन्न करता है।

स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर के साथ मिलाने वाला प्राण है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर यहीं पड़ा रहता है जिसे या तो जला दिया जाता है, या दफना दिया जाता है, या जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। कहीं-कहीं यह चील, गृध्र आदि के खाने के लिये किसी वन या स्थान

विशेष में रख दिया जाता है। प्रत्येक अवस्था में प्राण इसे छोड़ कर सूक्ष्म शरीर के साथ अन्यत्र चला जाता है। मृत्यु को कोई पसंद नहीं करता। सभी चाहते हैं कि प्राण इस शरीर में निरन्तर चलता रहे। वैदिक ऋषि भी कहते हैं :—

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुवितायगन्तन।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः तृष्णजे न दिव उत्साउदन्यवे॥

प्राण! आओ। तुम इन्द्रवन्त हो, आत्मशक्ति से युक्त हो, सेवा-परायण हो, तुम्हारी गति हितकर और रमणीय है। तुम हमारे सुवित के लिये, उत्तम अवस्था के लिये, यहीं रहो। जैसे प्यासा चातक स्वातिनक्षत्र के दैवीजल के लिये लालायित रहता है, वैसे ही हमारी मति तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो रही है।

प्राण का कार्य दश प्रकार का है, पर उसके पांच प्रकार तो अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। इन पांच में भी दो रूप सर्वश्रेष्ठ हैं जिन्हें प्राण और अपान कहा जाता है। समस्त प्रजा का प्राण सूर्य है। जब यह प्राण-पुंज अपनी सहस्रधा किरणों के साथ उदय होता है, तो विश्व का कण-कण, एक-एक पदार्थ, एक-एक व्यक्तित्व सप्राण हो उठता है, निराशा के स्थान पर आशा और तम के स्थान पर प्रकाश का संचार होने लगता है। दिन और रात्रि में २१६०० वार श्वासा का प्रवेश और निष्क्रमण होता है। जो सांस बाहर से अन्दर जाती है, वह बाहर के प्राणसिन्धु में डुबकी लगा कर आती है, अतः अन्दर पहुँच कर शक्ति का संचार करती है। जो सांस अन्दर से बाहर जाती है, वह हृदयसिन्धु के मंथन से उत्पन्न मल को शरीर के बाहर फेंक देती है। पहली सांस को प्राण और दूसरी को अपान कहते हैं। जीवन प्रदात्री एवं मलापहारिणी श्वास-प्रश्वास को इसीलिए दो अश्विनीकुमार देव वैद्यों की संज्ञा दी गई है। अथर्ववेद के अनुसार :—

द्वौ इमौ वातौ वातः आसिन्धोः आ परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

ये दो वायु चल रही हैं :—एक बाहर के सिन्धु से अन्दर के सिंधु तक और दूसरी अन्दर के सिंधु से बाहर के सिन्धु तक। अन्दर का सिन्धु हृदय है, बाहर का सिन्धु अन्तरिक्ष। एक दक्ष अर्थात् बल लाती है तो दूसरी दोष दूर करती है। एक से प्राणन अर्थात् जीवन आता है तो दूसरी से अपनयन, दोषापहरण होता है। दोनों ही रूपों में प्राण औषध का कार्य करता है। वेद तो इसे देवताओं का दूत भी कहता है। प्राण का संयम दिव्यता का आह्वान है। जैसे अग्नि की ज्वालाओं में पड़ कर धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियों के दोष प्राण के निग्रह से नष्ट हो जाते हैं। प्राण की तपस्या प्राण को वशीभूत करने में है। जिस प्राण के वश में सारा संसार है, उसे वश में कर लेना मानों विश्वविजयी होने की घोषणा करना है। हठयोगी प्राणायाम के अभ्यास द्वारा अन्दर के चक्रों का उद्घाटन करते हुए आज्ञाचक्र पर पहुँच कर ज्योति के दर्शन करने लगते हैं।

प्राण-संयम से जब इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं, तो इन्द्रियों की संज्ञा ऋषि हो जाती है। इन्द्रियों का यही ऋषित्व आगे चल कर विकास-क्रम में देवत्व की संज्ञा प्राप्त करता है। पांच ज्ञान की और पांच कर्म की मिलकर दश बाहर की इन्द्रियां हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार नाम से चार अन्दर की इन्द्रियां हैं। ये चार कभी-कभी अकेले मन में भी सम्मिलित कर ली जाती हैं और इस प्रकार समस्त इन्द्रियों की संख्या ग्यारह हो जाती है। इन इन्द्रियों का संयम अपूर्व शक्ति रखता है।

संयमशील इन्द्रियां आत्मा के साथ एक होकर उसी के अनुकूल आचरण करती हैं। उनकी चंचलता, स्वच्छन्दता, उच्छृङ्खलता नष्ट हो जाती है। इसी कारण उनका बल भी बढ़ जाता है। बल बढ़ने से उनमें एक शोभा, एक दीप्ति आ जाती है और आत्मा जिस मधु के साथ संयुक्त रहता है, उसका भी वे पान करने लगती हैं। इन्द्रियों की आस्वादन-शक्ति भी व्यापक हो जाती है। चक्षु दूर-दूर देशों का दर्शन करने लगते हैं। श्रोत्र विविध शब्दों के श्रवण में समर्थ हो जाते हैं। मन सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर लेता है। समस्त इन्द्रियों की समवेत शक्ति का चमत्कार संयमी योगियों के ही अनुभव की वस्तु है।

संयम-पूर्वक इन्द्रियां यदि आत्मा के साथ चलने लगीं, तो आत्मा का स्वराज्य सिद्ध हो गया। यही तो जीवन-यात्रा का अभीष्ट गन्तव्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम सबका पुरुषार्थ है। स्वराज्य में एक नहीं, सब आनन्द के भागी बनते हैं। जिस राज्य में थोड़े व्यक्ति सुख भोगें और अधिक संख्या क्लेश-कष्टों को सहन करे, वह स्वराज्य नहीं, सुराज्य भी नहीं, परराज्य और कुराज्य है।

इन्द्रियों में मन प्रधान है। बाहर की दशों इन्द्रियों के निखिल व्यापारों का समेकन वही करता है और वही उनका तथा आत्म-सम्बन्ध का माध्यम है। पर, मन में आसुरी तथा दैवी दोनों सम्पदायें भरी पड़ी हैं। एक के अपनाने से हमारा ह्रास तथा दूसरी के अपनाने से विकास होता है। असुरों के नीचे दबकर हम स्वयं ही नहीं मरते, दूसरों को भी मारते हैं। दैवी संरक्षण में सब को सुख ही सुख है। वेद इसीलिये मन को दैवी मन बनाने का आदेश देते हैं।

मन को दिव्यता की ओर ले जाने का शिवसंकल्प हमारे अन्दर अटूट लगन और तीव्र वेग के साथ जागृत होना चाहिये। इस संकल्प

का बाह्य बिन्दु श्रवण है। मन दैवी विचार सुने, देवों का संसर्ग करे, दिव्य भावों के अनुशीलन में रमे, तो दिव्यता के इस आसंग से उसमें दैवरुचि उत्पन्न हो जायगी। श्रवण के उपरान्त दूसरा बिन्दु मनन है जो श्रवण की हुई सामग्री को हमारा अंग बना देता है। मनन आन्तरिक है, पर उससे भी अधिक आन्तरिक निदिध्यासन है जिसे हम निबिड, सघन, बिना तार टूटे, ध्यान की अवस्था कह सकते हैं। प्रज्ञा का प्रकाश इसी अवस्था में होता है। श्रवण से पाण्डित्य, मनन से मुनित्व, निदिध्यासन से ऋषित्व तथा प्रज्ञा से देवत्व प्राप्त होता है।

मन को दैवी बनाने की प्रेरणा कई मंत्रों में पाई जाती है, यथा:—

पुनरेहि वाचस्पते दैवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयिश्रुतम्॥

हे वाणी के अधिपति, निखिल वाङ्मय के स्वामी, तुमने बहुत कुछ सुना दिया है, विविध शाखाओं वाले ज्ञान का प्रवचन किया है। अब ऐसी कृपा करो जिससे यह सुना हुआ मेरे अन्दर बस जाय। तुम वासक शक्तियों के भी पति हो, स्वामी हो, रक्षक हो, दैवी मनन तुम्हारा शाश्वत साथी है। यदि तुम आ गये और मेरे अन्दर निरन्तर रमण करने लगे, तो मेरा मन भी दैवी बन जायगा और अपने सुने हुए ज्ञान को अपने अन्दर पचा सकेगा।

सं जाना महै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्स्थुः बहुले विनिर्हते, मा इषुः पप्तद् इन्द्रस्य
अहनि आगते॥

हम सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करें, उस पर भलीभांति विचार

करें, दैवी मनन से कभी पृथक् न हों—इसकी पहिचान का लक्षण यह होगा कि जब विपत्ति आवे तब हम हाहाकार न कर उठें और जब सुख के दिन आवें, तो इन्द्र का वज्र हमारे ऊपर न गिरे—अर्थात् दुख में हम विचलित न हों और सुख हमें इन्द्रत्व से, आत्मतत्व से, अपने आपे से, बाहर न कर सके।

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

हम ज्ञान का ताना और कर्म का बाना बुनते हुए दिव्य सूर्य के पीछे पीछे चलें। ज्योतिष्मान् ज्ञानधनी अपने बुद्धि-बल से जिन प्रकाश-पथों का निर्माण कर गये हैं, उनकी रक्षा इसी विधि से होगी। हमें उल्बण-रहित होकर, बिना गाँठें डाले, कवियों-ऋषियों के पुनीत पद-चिह्नों पर चलना है। यदि हम मननशील मनु बन गये तो दैव्य-जन की प्रसूति भी संभव हो जायगी। दिव्यता की संतान, दैवी स्थिति की उत्पत्ति मननशीलता के पश्चात् ही संभव है।

अग्नि मिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्नि मीधेविवस्वभिः।

मन से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता हुआ मानव धी को प्राप्त करता है। अतः हम ज्ञान-किरणों द्वारा इस अग्नि को प्रकाशित करें। जहाँ से हमें ज्ञान की रश्मियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, वहाँ से हम उन्हें प्राप्त करें, फिर मनन-मन्थन द्वारा उस ज्ञान को अपने अन्दर प्रज्ज्वलित करें। प्रत्येक ज्ञान-रश्मि उस ज्ञान-निधान परमसूर्य प्रभु की ओर संकेत करती है। मनन की यह अग्नि धी को प्राप्त करती है। ज्ञान और आचरण की, कथनी और करनी की एकता इसी के द्वारा सम्पादित होती है।

धी में ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाते हैं। महात्माओं का लक्षण भी यही है कि जो कुछ उनके मन में है, जिस विचार को वे अन्दर रखते

हैं, उसी के अनुकूल आचरण भी करते हैं। दुरात्मा, दुष्ट जन की पद्धति इसके विपरीत होती है।

ज्ञान और कर्म की एकता अर्थात् धी की उपलब्धि दिव्यता की सुदृढ़ सीढ़ी है। यह धी प्रेरित, गतिवती, सचेष्ट बनी रहे, कुण्ठित न होने पावे, हमारी बुद्धि सतत शुभ, भद्र और कल्याणकारी कार्य्यों में प्रवृत्त रहे, इसी की प्रार्थना गायत्री मंत्र में की गई है।

यह धी यज्ञिय होती है। देवताओं की तो यह सतत संगिनी है। याजक इसी की पूजा करते हैं। इसी से उनकी रक्षा होती है। जैसे जौ के खेत में चर कर आई हुई गौ सहस्रधार दुग्ध देकर हमें तृप्त कर देती है, उसी प्रकार यह धी भी उस महीयसी गौ के समान हमारी कामनाओं को फलवती कर हमें आप्यायित कर देती है।

आ वो धियं यज्ञियां वर्तऊतये देवा देवीं यजताम् यज्ञियामिह।

सानो दुहीयत् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥

जैसे मन में दैवी एवं आसुर दोनों भाव रहते हैं, वैसे ही धी भी यज्ञिय एवं अयज्ञिय दोनों प्रकार की हो सकती है। वेद ने जहाँ धी को यज्ञिय, पवित्र कहा है, वहाँ उसे पापी भी कहा है:—'अन्यत्र पापीरपवेषया धियः।' यज्ञिय धी से विकास होगा, पापी धी ह्रास की ओर ले जायगी। पाप प्रवृत्ति वाली धी में कथनी और करनी दोनों ही अपवित्र होंगी। यदि धी को सत की ओर चलने की प्रेरणा मिलती रही, तो अपवित्रता कम होती जायगी और पुण्य का प्रकाश वर्द्धमान रहेगा। वैसे पुण्य और अपुण्य का जोड़ा तब तक चलता रहता है, जब तक प्रज्ञा का प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता। प्रज्ञा के पार चले जाने पर पुण्य और अपुण्य का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि यह युग्म प्राकृतिक क्षेत्र तक ही सीमित है।

मनन के उपरान्त यदि हमारा ध्यान पवित्र हो गया तो दिव्यता

का आधान हमारे अन्तः एवं बाह्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगेगा। यह आधान सुरक्षित रहे, दिव्यता पर दानवता का आक्रमण न हो सके, हमारा प्रकाश पतयालु न बने, इसके लिये धी से भी ऊपर मेधा के क्षेत्र में पहुँचने की आवश्यकता है। वेद के शब्दों में :—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु॥

देव और पितर इस मेधा की उपासना करते रहे हैं। उनका ज्ञान और ध्यान, याग एवं त्याग, कर्म तथा धर्म मेधा के द्वारा ही पूर्णता तक पहुँचे हैं। प्रभु इस मेधा से आज मुझे भी मेधावी बना दें।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानामवसे हुवे॥

मेधा ब्रह्मवती, वेदवती, ज्ञानवती, ज्ञानी ब्राह्मणों द्वारा सेवित, ऋषियों द्वारा स्तुत, प्रशंसित और ब्रह्मचारियों द्वारा प्रपीत है, आत्मसात् की गई है। जिन देवताओं को मैंने शारीरिक तप, प्राण-निग्रह, इन्द्रिय दमन, संयम, मनन एवं ध्यान द्वारा अपने अन्दर बसा लिया है, उन पर कोई आंच न आने पावे, वे सुरक्षित रहें, मेरे अन्दर बने रहें, इसके लिये मैं मेधा देवी की शरण जाता हूँ। उसका आह्वान करता हूँ। मेरी पुकार पर मेधा महारानी आवे और मेरे दैवी अंशों को सुरक्षा का कवच पहिना दे।

दिव्यता मेरी संगिनी ही नहीं, मेरा एक अंग बने, अपृथक् रूप से मेरे अन्दर निहित रहे, इस सिद्धि का सम्पादन मेधा द्वारा होता है, मेधा का मेधन (संगमन, प्राप्ति) प्रभूत पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। इसके लिये वारुण शक्ति (वारक वज्र द्वारा पापों को हटाना और पवित्रता को वरण करना), आग्नेय शक्ति (निरन्तर प्रगति, पावित्र्य एवं ज्ञान का अभ्यास), प्राजापत्य (आविर्भूत एवं संचित दैवी सम्पदा

का संत्राण), ऐन्द्री शक्ति (दैवी ऐश्वर्य को बढ़ाना, इन्द्र की भांति नवनवति से ऊपर शतक्रतु बनना), वायवी शक्ति (दिव्यता का प्रसारण) और धातु शक्ति (अर्जित किये हुये को अपने अन्दर धारण कर लेना, पचा लेना) की आराधना करनी पड़ती है। मेधा प्राप्त हो गई, तो दिव्यता सुरक्षित हो गई, प्रज्ञा का पट खुल गया।

मेधा के ऊपर प्रज्ञा का प्रकाश है, स्वतः ज्योति का प्रकट हो जाना है। वैज्ञानिक एक महासूर्य को और वेद हिरण्यगर्भ को निखिल ब्रह्माण्ड का जनक मानते हैं। पिंड में प्रज्ञा का भी यही स्थान है। प्रज्ञा पर पहुँचते ही पाप समाप्त हो जाते हैं वैसे ही जैसे हिरण्यगर्भ, ज्येष्ठ ब्रह्म या महासूर्य तक जाकर प्रकृति की विकृतियां निःशेष हो जाती हैं। पाप का यह रूप सूक्ष्म दशा में राग-द्वेष और स्थूल दशा में लोभ एवं क्रोध में दिखाई देता है। प्रज्ञा के प्रकट होते ही यह विलीन हो जाता है। वेद कहता है :—

उद्गादयमादित्यो विश्वेन सहसासह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्, मा उ अहं द्विषते रधम् ॥

प्रज्ञारूपी आदित्य अपने समस्त तेज के साथ उदय हो गया। इसने मेरे शत्रु (राग-द्वेष) को समाप्त कर दिया। अब मैं द्वेष के वशीभूत नहीं हो सकता।

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योति रविदाम देवान्।
किं नूनम् अस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिः अमृत मर्त्यस्य ॥

मैंने सोमपान कर लिया। अब मैं अमर हूँ। ज्योति मेरे सामने है। देव मेरी संनिधि में हैं। अब अराति, शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? मरण धर्मा मानवों के द्वन्द्व, छल-कपट, धूर्तता अब मेरे चरणों के नीचे दबे हैं, अपना बल खो चुके हैं।

प्रज्ञा के रूप में साधक को सबसे ऊँची सिद्धि प्राप्त हो गई। उसे

देव, ज्योति, अमरत्व, सोमपान, सब कुछ तो मिल गया। अब और क्या चाहिये? शत्रु कोई अवशिष्ट नहीं रहा, मर्त्यों की धूर्ति उस पर चल नहीं सकती—कैसी स्पृहणीय अवस्था है। कितनी उदात्त! कितनी श्रेष्ठ!! पर साधक तू जिन शब्दों में अपनी सिद्धि का उल्लेख कर रहा है, क्या उन शब्दों पर भी तेरा ध्यान गया है? क्या इन शब्दों में तेरा अहंकार नहीं बोल रहा? अहंकार जो पहली गांठ है, जिसने तुझे प्रकृति के साथ सर्व प्रथम ग्रथित किया, अब भी बना है। तू बहुत ऊपर उठ गया है, इसमें संदेह नहीं, पर अभी, विकृति से नहीं तो प्रकृति से तो चिपटा ही है। यह अहंकार तुझ उठे हुए को फिर गिरा देगा। तुझे देव मिल गये हैं, अमरत्व का तू अनुभव कर रहा है, पर यह स्वर्ग-अमरों और देवों का स्वर्ग, भोग की ही तो वस्तु है। इसे भोगने के बाद तू पुनः माता-पिता की आकांक्षा करने लगेगा। क्या कोई ऐसी अवस्था नहीं, जहां इस अहंकार का भी शमन हो सके?

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध द्रष्टा के स्वरूप अवस्थान में माना है और अस्मिता या अहंकार को क्लेशों में स्थान दिया है जिनसे पुरुष विशेष अपरामृष्ट रहता है। यह पुरुष विशेष ईश्वर है। यदि साधक ईश्वर के साथ अपने को एक कर दे, तो प्रकृति से एकदम असंग हो जायगा। प्रभु की भक्ति अहंकार के शमनार्थ इसीलिये अनिवार्य समझी गई है। वेद कहता है:—

त्वयाइत् इन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः। त्वमस्माकं तव स्मसि।

हे ईश्वर! तुझ से युक्त होकर ही हम अहन्ता पर आश्रित स्पर्धाओं का सामना कर सकते हैं। वस्तुतः प्रकृति, माया, अविद्या मेरी नहीं और न मैं उसका हूँ। मैं तो तेरा हूँ और तू मेरा है। यही सम्बन्ध सत्य है। अन्य सब सम्बन्ध असत्य हैं।

त्वावते हि इन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूररातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥

प्रभु ! अब मैं तेरे ही कार्य करूंगा अथवा तेरे लिये जो कार्य किये जाते हैं, उन्हीं को करणीय-कर्तव्य कार्य समझूँगा । तू शूर है, सच्चे बल वाला है, अब तेरे जैसे रक्षक के दान में ही मैं अपने को समर्पित करता हूँ । हे बलवती रक्षण शक्तियों के भंडार, परम तेजस्वी, परमहरणशील, अब सब दिनों के लिये तुम मेरे अन्दर अपना घर बना लो, तुम्हारे अतिरिक्त अब वहां अन्य कोई न रह सके, तुम सब को अपहृत कर दो, निकाल दो । तुम्हारे निवास से, तुम्हारे संसर्ग से, हे अमृत, मैं मरने से बच जाऊँगा । जो मुझे बार बार मारते रहे तथा मरण की ओर प्रेरित करते रहे, वे तुम्हारे बस जाने से ही भाग सकेंगे, मर सकेंगे ।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत, ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत क्षोणीरिव प्रति नोहर्य तद्वचः॥

हे इन्द्र, हे पुरुष्टुत, हे प्रभूवसो । तुम्हारा ऐश्वर्य ही सच्चा है, ऐसा प्रभूत ऐश्वर्य, विपुल वैभव, अनन्त आनन्द और किसी पर भी नहीं है । अतएव मैंने तुम्हारा ही आश्रय लिया है । अब मैं तुम्हारा ही बन गया हूँ । हे वाणी के भजनीय, वाक्शक्ति के आराध्य देव । आपके अतिरिक्त मेरे वचनों को, मेरी आर्त पुकार को सुनने वाला भी और कोई नहीं है । पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की भांति मेरे वचन आपके ही कानों में पड़ें । उन्हें आप ही सुनें ।

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जारितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः ॥

देखो, ये ब्रह्म को, आपको, अपना बनाने वाले, तुम्हारे लिये किये गये होत्र में मिल कर बैठ गये हैं, जैसे मधु के चारों ओर मक्खियाँ

बैठ जाती हैं ये स्तोता, ये भक्त, ये तुझ वसु के प्रेमी, अभिलाषी तुझे पाकर ऐसे निश्चिन्त हो गये हैं, जैसे रथ में बैठ कर कोई पथिक निश्चिन्त हो जाता है।

आत्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते। उष्मसि त्वा सधस्थआ।

हे देवाधिदेव! इन भक्तों की पंक्ति में मुझे भी सम्मिलित कर लो। हे बलों और तेजों के अधिपति! आज मैं सब को छोड़ कर केवल तुम्हारे आश्रय में आया हूं। जैसे बुड्ढेको अपने डंडे का सहारा रहता है, वैसे ही मैंने तुम्हारा अवलम्बन लिया है। अब तुम मेरा परित्याग न करो। मैं चाहता हूं, अब तुम्हीं मेरे सामने रहो। मेरी और तुम्हारी सधस्थता में, सहस्थिति में कोई विघ्न या आवरण न डाल सके।

यो भूतानामधिपतिः यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः। य ईशेमहतो महान् तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥ यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्याइहाशिषः॥

ये लोक तुम्हारे अन्दर आश्रित हैं। इन प्राणियों के एकमात्र तुम्हीं पालक हो। तुम महान् से महान्, महत्तत्व से भी ऊपर शासन करते हो। तुम्हारे इसी महान्, व्यापक, रक्षक रूपको आज मैं अपने अन्दर ग्रहण करता हूं, तुमको आत्मा में बसाता हूँ।

तुम्हारे इस वास से अब या तो मैं तुम्हारे स्वरूप में समा जाऊँ या तुम मेरा रूप धारण कर लो। यह सहस्थिति सह न रह कर एकत्व में परिणत हो। दो शाश्वत साथियों को, सयुजा और सखाओं को सब एक कहने लगें। नर और नारायण में कोई भेद न कर सके। तुम्हारे आशीर्वाद यहां सत्य तो उसी दिन होंगे जब यह एकत्व सिद्ध हो जायगा।

आर्य संस्कृति में विकास की यही चरम सीमा है। एकत्व, अभेद, अखंड, अदिति की अनुपम अनुभूति !!!

देव कौन हैं

प्लेटो जिस स्थूल-वस्तु-निरपेक्ष ज्ञान की बात कहता है, स्पिनोजा जिस बुद्धि के क्षेत्र में विचरण एवं आचरण को स्वाधीनता कहता है, वह ज्ञान और स्वाधीनता भारतीय चिन्तन क्षेत्र की देवकोटि में आते हैं। वैदिक विकास पद्धति में हमने मनन से मुनित्व, निदिध्यासन से ऋषित्व और प्रज्ञा से देवत्व को संबद्ध किया है, वह भी भारतीय मनीषा का ही मान्य सिद्धान्त है। वेद में ऐसे अनेक मंत्र आते हैं जिनमें देवसम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन है। नीचे हम इन्हीं मंत्रों के आधार पर कुछ विचार प्रकट करेंगे। देव कौन हैं, उनके गुण तथा लक्षण क्या हैं, इसका निरूपण नीचे लिखे मंत्र में है :—

नृचक्षसोऽनिमिषन्तोऽर्हणा बृहद्देवासोऽमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते, स्वस्तये॥

देव मनुष्यों को देखने, पहिचानने वाले होते हैं, इनके पलक नहीं लगते—निर्निमेष दृष्टि से देखते रहते हैं, ये योग्य-समर्थ एवं पूज्य होते हैं—दूसरों से सहायता लेने की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती, ये बृहत अमरता को प्राप्त करते हैं (अल्प अमरता तो प्रगाढ़-निद्रा, भाव-मग्नता आदि रूपों में साधारणतया हम सभी के पास है), ये ज्योति के रथ पर चलते हैं—प्रकाश के वाहन द्वारा पल भर में ब्रह्माण्ड भर का भ्रमण कर सकते हैं, इनकी प्रज्ञा हीनता की ओर नहीं जाती—हम अपने पढ़े, मनन किये, समझे हुये विषय को भूल जाते हैं, ज्ञान के उच्च क्षेत्रों में विचरण कर नीचे गिर जाते हैं, अज्ञान में फँस जाते हैं, पर इनका ज्ञान, इनका प्रकाश अपने धरातल का

परित्याग नहीं करता, ऐसे स्थिर, अविचल, सत्य ज्ञान वाले देव निष्पाप निर्विकार, विशुद्ध, पुण्यवान होते हैं और कल्याण के लिये, पार्थिव या स्थूल नहीं, सूक्ष्म भी नहीं, दैवी अर्थात् कारण शरीर को धारण करते हैं।

(साधारण मानव पार्थिव शरीर में ही प्रायः निवास करते हैं। कुछ उन्नत मानव मुनि अर्थात् मनन शील बन कर मानसिक शरीर में रहते हुए उसी क्षेत्र के व्यापारों में विचरण करते हैं। देव निर्मल बुद्धि के क्षेत्र में रहते हैं। तीनों शरीर तीन प्रकार के घर हैं और पूर्वापर क्रम से उन्नत अथवा हीन कहे जा सकते हैं। पार्थिव स्थूल शरीर में ज्ञान सामान्य, मानसिक सूक्ष्म शरीर में ज्ञान भासमान, दैवी, बौद्धिक या वैज्ञानिक शरीर में ज्ञान ज्योतिर्मय होता है। देवों को इसी हेतु ज्योतिरथ वाला कहते हैं। इनका क्रमशः अपना उत्, उत्तर या उत्तम तेज होता है जो चारों दिशाओं में अपने सामर्थ्य के अनुसार विकीर्ण होता, प्रभाव फैलाता तथा उन्हें उठाता एवं दृढ़ करता रहता है।

वैदिक विकास पद्धति में हमने शरीर, प्राण, मन आदि के तप का उल्लेख किया है। इस तप के अनुकूल ही दिव्यता विकसित होती जाती है। दान, दीप्ति एवं प्रकाश अन्नमय स्थूल या पार्थिव शरीर से प्रारम्भ होकर क्रमशः बढ़ते जाते हैं और अपनी सीमा का विकास बाहर सूर्य में और अन्दर विज्ञानमय कोष में उपलब्ध करते हैं। प्रारंभ में पार्थिवता का अंश अधिक और दिव्यता का अंश कम रहता है, पर अन्त में पार्थिवता नाम मात्र की रह जाती है तथा दिव्यता अपना पूर्ण रूप प्रकट करती है। देवों को इसीलिये अनागस कहा गया है। वे विकारों से शून्य, पर शुभ-सत् या भद्र के निधान बन जाते हैं। आत्मतत्व उपलब्धि की अवस्था इससे भी ऊपर है जहां शुभ और अशुभ, सत् और असत्, भद्र और अभद्र कुछ भी नहीं रहता, जहां निरुपद्रव स्वरूपावस्थान ही रह जाता है।)

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुः यज्ञियां नावमारुहम् ईर्मैव ते न्यविशन्तकेपयः ॥

दिव्यता का आह्वान करने वाले जिस मार्ग से जाते हैं, वह साधारणजन-क्षुण्ण मार्ग से भिन्न है। वे दुस्तर, कठिनता से पार करने योग्य यशस्वी कार्यों को कर जाते हैं। यह शक्ति उन्हें यज्ञ से प्राप्त होती है। वे यज्ञिय नाव पर चढ़ जाते हैं, यज्ञ को अपना अवलम्बन बना लेते हैं, पर जो इस नाव पर नहीं चढ़ सकते, वे अयज्ञिय अर्थात् कुत्सितकर्मा होकर यहीं नीचे गिर जाते हैं।

यज्ञ में मुख्य भाव त्याग का है। देव यज्ञ करते हैं, असुर नहीं। शतपथ ब्राह्मण के सव नामक पंचमकाण्ड, प्रथम प्रपाठक, प्रथम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में देवासुर-प्रतिस्पर्धा का वर्णन है जिसके अनुसार असुर 'स्वेषु एव आस्येषु जुह्वतश्चेरुः' अपने ही मुखों में आहुति डालते थे। यह उनका अतिमान अर्थात् घोर स्वार्थ था और यही उनके पराभव का कारण बना। देव 'अन्योऽन्यस्मिन् एव जुह्वतश्चेरुः' एक दूसरे के मुख में आहुति डालते थे। अतः प्रजापति ने अपने आपको उन्हें दे दिया। देव विजयी हुये। यज्ञ ही उनका अन्न या जीवन बना।

पांचभौतिक शरीर से महत्तत्व पर्यन्त दैवासुर युद्ध चलता रहता है। महत्तत्व के शिखर पर प्रज्ञा के उदय होते ही इसकी समाप्ति होती है। इसी बीच में जब जब असुर आक्रमण करते हैं, तब तब देव उनका सामना तो करते हैं, पर अन्त में उन्हें विजय तभी प्राप्त होती है जब यज्ञ के प्रथम धाम-मुख्य स्रोत प्रभु को वे आगे करते हैं।

ऋतं शंसंतः ऋजु दीध्यानाः दिवस्पुत्रासोऽसुरस्य वीराः।
विप्रं पदमंगिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

देवों की विशिष्टता और प्रकर्ष में संकीर्णता नहीं, व्यापकता होती है। ऋत के निकट रहने के कारण वे उसी का कथन करते हैं, उसी की प्रशंसा करते हैं। उनके ध्यान की गति सरल होती है, वे द्यौ के पुत्र और प्रज्ञा के वीर होते हैं। उनकी एक संज्ञा अंगिरस भी है। जैसे अंगों का रस उनकी स्थिति का कारण है, वैसे ही ये देव ब्रह्माण्ड की स्थिति के कारण बनते हैं और यज्ञके सनातन स्थान को समझते हैं।

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृत द्विषः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥

देव नर हैं, नेता हैं, सबको आगे ले जाने वाले हैं। यह गुण उन्हें इसलिये प्राप्त है कि वे ऋतवान होते हैं, ऋत में जन्म लेकर उसी में विचरण करते हैं, ऋत ही उन्हें बढ़ाता है और जो ऋत नहीं है, अनृत है, उसके वे घोर शत्रु होते हैं। ऐसे देवों की शरण सुखदायिनी होती है। सूरी या विद्वान इन्हीं देवों की शरण में रहकर सुख प्राप्त करते हैं।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य, स्थातु जंगतश्चमन्तवः।
ते नः कृतादकृता देनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥

देव प्रचेताः—प्रकृष्ट ज्ञानी होते हैं। वे स्थावर एवं जंगम निखिल जगत को जानते हैं। वे भुवन के स्वामी हैं। ऐसे देव हमारे कल्याण के लिये हमें किये हुये और आगे होने वाले पाप से आज पार कर दें।

देवानां॒ भद्रा सुमति ऋजूयतां देवाना॑ रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवाना॑ सख्य मुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥

सरलता के प्रेमी देवों की कल्याणकारिणी सुमति और उनका दान हमें सामने, आगे बढ़ते ही, प्राप्त हों। हम देवों के मैत्रीभाव के निकट रहें। जीवित रहने के लिये देव हमारी आयु को बढ़ा दें।

भीष्म महाभारत में कहते हैं :—ऋषयो नित्यसंध्यत्वात् दीर्घमायु-

रवाप्नुवन्। ऋषियों ने नित्यसंध्यावन्दन द्वारा–देवाधिदेव प्रभु की उपासना द्वारा दीर्घ आयु पाई थी। वेद कहता है—

'ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नते।' देव ब्रह्मचर्य के बल से मृत्यु का भी उल्लंघन कर गये हैं। जो स्वयं अमर बना है, वही दूसरों को अमरत्व का मार्ग दिखा सकता है, दीर्घ आयु दे सकता है।

न देवानामतिव्रतं शतात्माचन जीवति। तथा युजा विववृते॥

जो देवों के व्रत का, नियम का अतिक्रमण करते हैं, वे भले ही शतात्मा हों, सैकड़ों पुत्र-पौत्रों, परिवार वालों या साथियों से संयुक्त हों अथवा अन्यों की अपेक्षा सौगुनी शक्ति रखते हों, जीवित नहीं रह सकते। उनके संगी साथी भी उन्हें छोड़कर चले जाते हैं।

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥

जिसको आदित्य देव सुन्दर मार्ग द्वारा ले जाते हैं, वह समस्त दुरितों, पापों को अतिक्रान्त कर जाता है। उस साधक मानव का फिर कोई अरिष्ट नहीं होता। वह धर्मपरायण बन कर भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रजा से वृद्धि को प्राप्त होता है, संसार में समृद्ध बनता है। यह है देवों का प्रसाद !!

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृताः ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्ता मुरुगाय मद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

यज्ञिय देवों में भी जो यज्ञिय हैं, पूज्य हैं, जो मानसिक यज्ञ करने वाले हैं, अमर हैं और ऋत के ज्ञाता हैं, वे आज हमें विस्तृत यश प्रदान करें और अपनी कल्याणकारिणी शक्तियों द्वारा सदैव हमारी रक्षा करें।

इस मंत्र में 'मनु के यजत्र' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। मनु सिद्ध मुनि है। वह केवल मननशील ही नहीं है, मनन को यज्ञ में परिणत करने वाला भी है। मन आत्मा की आन्तरिक इन्द्रिय है। जब यह यज्ञमय बन जाती है तो अन्तस्तल पवित्र हो जाता है। यह विकृति से शून्य पवित्र अवस्था उच्चकोटि का देवत्व है। इसीलिये मंत्र में मनु-यजत्रों को देवों में पूज्य कहा गया है। ऋत का ज्ञान इसी अवस्था में होता है।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः।

त आदित्या अभयं शर्म यच्छतसुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥

समिद्धाग्नि मनु ने मन से सप्त होताओं के द्वारा जिनके लिये प्रथम होत्र का आयोजन किया था, वे आदित्य देव हमें अभय तथा शान्ति प्रदान करें और हमारे कल्याण के लिये सुपथ को सुगम करदें।

प्रथम होत्र सृष्टि है। इस प्रथम यजन के साथ ही प्रभु ने जीवरूपी प्रजाओं को उत्पन्न किया। जीवों में मनु का नाम सर्व प्रथम आता है जिसने यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित किया। सात होता उसके सात पुत्र हैं जो सप्तर्षि कहलाते हैं। सृष्टि होता के रूप में मनु ईश्वर है। शरीर-यज्ञ का होता आत्मा है जो पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा प्राणरूपी सात होताओं के द्वारा यज्ञ कर रहा है। यह यज्ञ वस्तुतः देवों के लिये है। इसी हेतु वेद कहता है—इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः। इस यज्ञ को विश्वकर्मा प्रभु ने विस्तृत किया है। देव प्रसन्न होकर इस यज्ञ में आवें। गीता के शब्दों में यज्ञ कामधेनु है। इससे देव प्रसन्न होते हैं और बदले में याजकों को प्रसन्न करते हैं तथा इष्ट भोग देते हैं। ये देव स्वयं यजनशील हैं। इनका अनुकरण करते हुये जो याजक यज्ञ करता है और यज्ञ के अवशिष्ट भाग का ही उपभोग करता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्तां आदित्यां अनुमदास्वस्तये ॥

देव द्यौ के पुत्र हैं, अखंड अविभाज्य अदिति इनकी माता है जो स्वयं अद्रिबर्हा है, पर्वत जैसे विचित्र जिसके पंख हैं, जो अविचल गति वाली हैं, ऐसी माता ने जिनके लिये मधुमय पीयूषरूपी पय की धारायें प्रवाहित कर दी हैं (देव अमृत भोजी हैं), वे प्रशंसनीय बल वाले कामनाओं को सफल बनाने वाले, शोभन कर्मा, यजनशील देव हमारे कल्याण के लिये प्रसन्न हों ।

ये देवा देवेषु अधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धामकिञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु ॥

जिन देवों ने देवताओं के ऊपर भी देवत्व प्राप्त किया है, जो इस ब्रह्माण्ड को आगे ले जा रहे हैं, जिनके बिना कोई धाम पवित्र नहीं होता, वे न द्यौ में हैं और न पृथिवी के ऊपर पर्वत शिखरों पर हैं । वे सर्वत्र हैं और विशेष रूप से सब के अन्दर विद्यमान हैं ।

सहस्राहृण्यं वियतौ अस्य पक्षौ हरे हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वान् उरसि उपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥

यह हंस (जोवात्मा) स्वर्ग की खोज में अपने पंख फड़फड़ाता हुआ व्यर्थ इधर उधर भटक रहा है । स्वर्ग की जिस दिव्यता को यह प्राप्त करना चाहता है, वह तो इसके अपने अन्दर ही उपस्थित है । बाह्य भुवनों के दृश्य देखने में तो क्षणिक जगमगाहट ही पल्ले पड़ेगी । साक्षात् ज्योति के दर्शन करने हों तो अन्दर गहराई में प्रवेश कीजिये । आगे बढ़ने में वैभव मिल जायगा । ऊंचे चढ़ने में सदाचार से उत्पन्न यश हाथ लगेगा, पर गहराई में घुसने पर दिव्य ज्योति प्राप्त होगी जिसका मूल्य न वैभव चुका सकता है, न यश । यह ज्योति, यह प्रज्ञा, यह आत्म प्रकाश प्रभु की अमूल्य देन है । विशुद्ध देवों का यही धन है ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

हे देव ! मैं गिरा हूँ । मुझे उठाओ ! पाप ने मुझे मार डाला है, देव, मुझे पवित्र बना कर पुनः जीवन दान दो ।

देवों में पवित्र करने की शक्ति है । वे पतित का उद्धार कर सकते हैं । वे स्वयं उत्थान के उच्च शिखर पर विद्यमान हैं, अतः अवनतों को अवलम्बन देकर ऊपर उठा सकते हैं । देवों की आयु, प्राण, दर्शन, श्रवण, उच्चारण, मनन, वेद-ज्ञान, प्रज्ञा-प्रकाश तथा पृष्ठाधार रूप सब कुछ यज्ञमय होता है । उनकी यज्ञ-भावना भी यज्ञमय ही होती है । इसी बल पर वे स्वर्ग, सुख-विशेष की अवस्था प्राप्त करते हैं । वे अमृत बनते हैं । प्रजापति की वास्तविक प्रजा वे ही हैं । पिता की सन्तानें तो अनेक होती हैं, वर जो गुणों एवं आचरणों में पिता के सर्वाधिक निकट होते हैं, वे ही उसके सच्चे पुत्र कहलाते हैं। प्रजापति परमात्मा के सच्चे पुत्र यही देव हैं ।



ऋत की महिमा

हमें विश्व में दो नियम कार्य करते प्रतीत होते हैं। एक का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से है, दूसरे का मन से। एक को सत्य और दूसरे को ऋत कहा जाता है। सत्य में जहां सत्तात्मक नियम आते हैं, वहां ऋत में गत्यात्मक। वैसे गति दोनों के मूल में है, पर एक में प्रेरक गति जो सत्ता को सुरक्षा का मूल हेतु है, सत्ता के ज्ञानाभाव के कारण एकांगिनी है, सत्ता-निरपेक्ष है। दूसरे में यह गति क्रिया का रूप धारण करती है जिसमें ज्ञान और भाव भी सम्मिलित है तथा जो सत्ता-सापेक्ष है। मन समझने लगता है कि उसका गति-स्रोत कहां है।

ऋत को सामान्यतः सत्य भी कहते हैं, पर हैं दोनों पृथक पृथक। एक मानसिक जगत का संचालक है, दूसरा पार्थिव शरीर-जगत का। अंग्रेजी का राइट [Right] शब्द संभवतः ऋत का ही अपभ्रंश है, पर अपने मूल अर्थ के निकट है। जब हम ऋत को सत्य कहते हैं, तब भी सत्य से हमारा अभिप्राय नैतिक नियम से ही होता है। हम सत्य बोलते हैं, झूंठ नहीं, उसका तात्पर्य ब्रह्माण्डीयगति नहीं, मानव की मानसिक पवित्र क्रिया है। ऋत या नैतिक सत्य के विपरीत झूठ को इसीलिये अनृत कहा जाता है।

ऋत को पिता और सत्य को माता भी कह सकते हैं। एक बीज है तो दूसरा क्षेत्र। एक तैजस है तो दूसरा पार्थिव। परम तत्व में ऋत और सत्य दोनों समवेत हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में दोनों का आविर्भाव वहीं से होता है। वैसे तो रचना के अंग-अंग में दोनों ऐसे अनुस्यूत हैं कि एक को दूसरे से नितान्त पृथक नहीं कर सकते. फिर भी दोनों की अवस्थिति में तारतम्य अवश्य है। पृथ्वी में पार्थिव

अंश अधिक है, तैजस बहुत कम। जल, अग्नि, वायु में पार्थिवता कम होती गई है, तैजस अंश बढ़ता गया है। द्यौ में पार्थिवता नाम-मात्र की है, तैजस अंश ही वहां प्रधान है। पर ये सत्तायें हैं, जिनमें प्रभु-प्रदत्त तेज कार्य करता है, इन्हें प्रेरित या गतिशील रखता है। प्राणियों में भी इन सत्ताओं के अंश हैं, जो उनके तेज का आधार बनते हैं।

प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ है। वह सज्ञान है। वह शुभ और अशुभ में, भद्र और अभद्र में भेद का अनुभव करता है। यही नहीं, वह अभद्र को छोड़ कर भद्र की ओर प्रयाण करता है। ब्रह्माण्डीय पदार्थों में यह ज्ञान ही नहीं है। पशु-पक्षियों में ज्ञान की मात्रा होते हुये भी भद्र और अभद्र का विवेक नहीं है। शुभ और अशुभ की समस्या भी मानव के ही लिये है, पशु आदि के लिये नहीं।

मानव का तेज नैतिक नियमों पर आधारित है। जो मानव जितना ही अधिक शुभ एवं भद्र की ओर प्रयाण करता है, उतना ही अधिक वह तेजस्वी बनता है। मानवता के क्षेत्र में ये नैतिक नियम ही ऋत हैं। जिसने शुभ एवं अशुभ का भेद जान लिया, वह ऋत के निकट पहुँच गया। किसी वस्तु का ज्ञान उसके गुणों से परिचित कराता है। यह परिचय उस वस्तु की प्रशंसा में परिणत हो जाता है। जब मैं शुभ की प्रशंसा करता हूँ, तो स्वभावतः उसे अपनाने के लिये भी बढ़ता हूँ और जब अपना लेता हूँ, तो वह मेरे अन्दर भर जाता है।

यह प्रशंसा, स्तुति या कथन शुभ के धारण के साथ मेरे जीवन से प्रकट होने लगता है, उसके यश का प्रसार करता है। यह प्रकटन ही उसे अन्यों तक ले जाता है, उसे विस्तृत करता है। जब शुभ का यश फैल जाता है, तब जो अज्ञानी हैं, शुभ को नहीं जानते, वे भी उसे जानने लगते हैं, उससे परिचित होते हैं और जो बहरे हैं, तटस्थ हैं, उनके

कानों में भी घुसकर यह यश उन्हें शुभ को समझने के लिये बाध्य कर देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बहरों द्वारा सुनने और समझने का सामर्थ्य प्राप्त करना है, अज्ञानियों का ज्ञान की ओर जागरण है जो उन्हें अन्त में शुचि एवं पवित्र बना देता है।

शुभ और अशुभ अथवा भद्र और अभद्र के स्थान पर उपनिषद के ऋषियों ने श्रेय और प्रेय शब्दों का प्रयोग किया है। प्रेय का अर्थ प्रिय अथवा रुचिकर है। श्रेय का अर्थ आश्रय के योग्य है। प्रेय अथवा रुचिकर वस्तुएँ स्वयं आश्रय की खोज में हैं। वे किसी का भोज्य बनकर उसका आश्रय ग्रहण करती हैं, उसमें निवास, स्थान या निधान पाती है। अतः जो सबका आश्रय है, वही मानव-जीवन-यात्रा का गन्तव्य होना चाहिये। प्रेय की ओर बढ़ना दीन या आश्रित होना है। श्रेय की ओर बढ़ने में अदीनता है, स्वतन्त्रता है।

श्रेय पवित्र है। वेद ने प्रभु को भी पवित्र और पवमान अर्थात् पवित्र करने वाला कहा है। श्रेय भी वही है। जब मैं ऋत का गुण-गान करता हूँ, तो इस श्रेय का स्वरूप मेरे समक्ष अनावृत होता है। जब तक आवरण पड़ा है, वस्तु के सत्यस्वरूप से मैं वंचित हूँ, तब तक सांसारिक क्लेश मुझे बेचैन किये रहते हैं। शोक का प्रमुख कारण अज्ञान या अनृत है। सत्य स्वरूप का उद्घाटन होते ही शोक दूर हो जाता है। अतः ऋत की प्रशस्ति शोक का अवरोध करने वाली है। शोक को हटाना है, तो ऋत को समझिये, नैतिक नियमों को हृदयङ्गम कीजिये, शुभ और अशुभ अथवा श्रेय और प्रेय में विवेक-बुद्धि उत्पन्न कीजिये।

ऋत का ज्ञान शोक को तो रोक देगा, पर शोक ने जो पाप में प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है, उसके नष्ट करने का क्या उपाय है? शोक

पाप में प्रवृत्त करता है। क्लेशाकुलता हटाने में साधनों के शुभ या अशुभ होने पर ध्यान नहीं जाता। दुखी व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य अपनी व्यथा का अपनोदन रहता है। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'—यह उक्ति उस पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। अतः जैसे ऋत को, नैतिक नियमों के सत्य स्वरूप को समझ लेने से शोक दूर होता है, वैसे ही उसे जीवन में धारण कर लेने से पाप पर विजय प्राप्त हो जाती है। सत्, शुभ, भद्र और श्रेय का ज्ञान, फिर उसका जीवन में अवतरण, धारण, कर्मान्वयकरण पुण्य-सम्पादन के अचूक साधन हैं।

ऋत को जानना और धारण करना अर्थात् ऋत सम्बन्धी कथनी और करनी का ऐक्य मानव को यशस्वी बनाता है। यश का धर्म फैलना है। यश सीमा या बन्धन को स्वीकार नहीं करता। जब वह फैलता है तो अनेक कानों तक पहुँचता है। यश के साथ कथनी और करनी भी लगी रहती है। यश के फैलने का अर्थ ही व्यक्ति के चरित्र और मान्यताओं का स्वीकार एवं प्रसार है। इससे व्यक्ति की महिमा तो बढ़ती ही है, सदाचार का महत्व भी जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित हो जाता है। सदाचार के शत्रु भी इस यशोगाथा को अनसुनी नहीं कर सकते। यदि वे इसका प्रत्याख्यान करेंगे, तो उस प्रत्याख्यान के अन्दर भी यह छिपी न रह सकेगी। वहीं से बोलेगी कि मैं यहाँ विद्यमान हूँ। यह है बधिर कानों को भी फोड़कर ऋत के यश का हृदय-हृदय पर छा जाना।

जब ऋत कथनी और करनी से निकल कर यश के पंख धारण करता और हृदयाकाश में उड़ान भरता है, तो किसी न किसी दिन शत्रु से शत्रु को भी उसे स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। यही उसका शत्रुता से हटकर मित्रता में, अशुभ से निकल

कर शुभ में जागरण है, पुनर्जीवन-प्राप्ति है। यह जागरण पवित्रता में प्रवेश है।

ऊपर जो ऋत की महिमा वर्णित हुई है, उसका आधार ऋग्वेद का निम्नांकित मन्त्र है :—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
—ऋ० ४-२३-८

ऋत की महिमा अपूर्व है। ऋत से शोक का अवरोध, अपनोदन होता है। ऋत को जीवन में धारण कर लेने से पाप समाप्त हो जाते हैं। ऋत की कीर्ति बहरे कानों को भी फाड़कर अन्दर प्रवेश करती है और मनुष्य को जगाती हुई उसे पवित्र कर देती है।



ऋत क्या है ?

वैज्ञानिकों ने अणु-विश्लेषण में क्षिप्रातिक्षिप्र गतियों का जाल देखा है। क्या ये गतियाँ निरपेक्ष हैं ? क्या इनका कोई अधिष्ठान नहीं है ? दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि इनका संचालक कौन है ? गति, अधिष्ठान और संचालक तीनों के समाधान में प्रत्येक युग के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तत्पर रहे हैं। वे सब एक ही निर्णय पर पहुँचे हों, ऐसा नहीं है। किसी ने संचालक को विशेष महत्व दिया है तो किसी ने गति एवं अधिष्ठान को। अंग्रेजी के तीन शब्द माइन्ड, मोशन और मैटर इन तीनों के पर्याय हैं। स्पिनोजा इन्हें ईश्वर (God), चेतना (Thought) तथा विस्तार (extension) कहता है। काण्ट प्रथम के सम्बन्ध में अज्ञेय शब्द का प्रयोग करता है। अन्य दो को वह सदाचार का नियम (moral law) तथा प्राकृतिक नियम (Natural law) कहता है। गीता अन्य दो को प्रथम की प्रकृतियाँ कहती हैं।—

भूमिरापोऽनलो वायुः खंमनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७–४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहोययेदं धार्यते जगत् ॥ ७–५ ॥

आचार्य रामानुज इनमें व्याप्य-व्यापक अथवा शरीर और शरीरी का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। स्पिनोजा ने इससे मिलती-गुलती बात लिखी है। उसकी दृष्टि में चेतना और विस्तार ईश्वर के गुण हैं। पाश्चात्य एवं पौरस्त्य अद्वैतवादी एक अन्तिम निरपेक्ष सत्य के अतिरिक्त अन्य सबको सापेक्ष कहते हैं।

ऋग्वेद (१०-१९०) में अभीद्ध तप से ऋत एवं सत्य का आविर्भाव माना गया है। अभीद्ध तप निरपेक्ष सत्य है। ऋत को गति और सत्य को अधिष्ठान माना जा सकता है। नीचे हम ऋत के सम्बन्ध में वैदिक विचार प्रस्तुत करेंगे।

यजुर्वेद के पंचम अध्याय में ईश्वर को ऋत का धाम और स्वयं ज्योति कहा गया है। ऋत में चेतना पर आश्रित गति और कर्म दोनों ही आते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं—सहज या निरपेक्ष और सापेक्ष। मैं जब तक हूँ, तब तक शरीर चलता रहेगा। ईश्वर विभु है, सर्वव्यापक है, अतः अपने व्याप्य का संचालन करता रहेगा और उसके अस्तित्व या निर्वाह का भी हेतु होगा। पर शरीर-निर्वाह के लिए जो श्रम और कार्य मनुष्य को करने पड़ते हैं ; ब्रह्माण्ड की क्षति-पूर्ति के लिये मानव जो अपनी ओर से यज्ञ करता है और अग्नि में हव्य डालता है, उसका वहन, विकिरण, कार्यसम्पादन भी तो ईश्वर करता है। प्रथम निरपेक्षरूप में वह विभु और द्वितीय सापेक्षरूप में वह हव्य-वाहन वह्नि कहा जाता है।

जो अवस्था कर्म की है, वही ज्ञान की भी। अपने निरपेक्ष रूप में प्रभु स्वभावतः सब से सूक्ष्म होने के कारण शीघ्र व्यापनशील एवं प्रचेता, प्रकृष्ट-ज्ञान-सम्पन्न है। दूसरों को ज्ञान भी वह स्वभावतः देता है, पर सापेक्ष रूप में वह विश्व की गतिविधि को जानने वाला भी है। श्वात्र होने से प्रचेता और तुथ होने से वह विश्ववेदा कहा जाता है। श्वात्र उसका निरपेक्ष गुण है, तुथ सापेक्ष।

भाव के क्षेत्र में भी यही बात है। प्रभु स्वभावतः उशिक है, कमनीयस्वरूप है, कवि है—शब्द एवं अर्थ के सामंजस्य की निधि है। यह उसका निरपेक्षरूप है। सापेक्ष दृष्टि से प्रभु का भाव-गत रूप अंघारि तथा बम्भारि है। जीव जो पाप करते हैं और परिणामतः

विनाश को प्राप्त होते हैं, उन पापों का शत्रु होकर प्रभु जीवों को पाप करने से रोकता है और जीवों पर दयालु या वत्सल होने के कारण उनका पालन-पोषण और धारण करता है। एकभाव इसके साथ और भी जुड़ा हुआ है। प्रभु जहाँ कमनीय है, वहाँ घोर भी है, जहाँ शिव है वहाँ रुद्र भी है।

सेवा के क्षेत्र में प्रभु स्वभावतः सेवकों का रक्षक है, पर सापेक्ष रूप से वह निरन्तर ब्रह्माण्ड एवं जीवों के अन्तस्तल का शोधन एवं मार्जन भी करता रहता है।

राजक्षेत्र में निरपेक्षतः वह सम्यक् रूप से शोभायमान (सम्राट्) तथा कृश, दग्ध एवं दीन-हीनों का आधार (कृशानु) है, सापेक्ष रूप में वह मानवों की परिषद के योग्य तथा पवमान है। मनुष्यों के नियम-निर्माण, विधि-विधान तथा शासन-व्यवस्था को वही विवाद, संघर्ष, युद्ध आदि द्वारा पवित्रता की ओर ले जाता है।

न्यायक्षेत्र में जहाँ वह नभ अर्थात् अप्रतीत होने पर भी सबका प्रतका, साक्षी तथा द्रष्टा है— सब के पाप-पुण्यों का यथावत् फलदाता है, वहाँ सापेक्षतः मृष्ट होकर हव्यसूदन भी है, एक-एक के हव्य का शोधक और विभागकर्ता भी है।

सापेक्षरूप में प्रभु समुद्र और विश्वव्यचा है। प्राकृतिक क्षेत्र में सब का समुद्रवण तथा विश्वभर का विस्तार उसी से हुआ है और परिणामतः सब उसी की ओर द्रवित होते हैं तथा उसी में समा जाते हैं। निरपेक्षतः वह अज है, अजन्मा है; प्रपञ्च या विस्तार के साथ सम्बद्ध चतुष्पाद नहीं, एकपाद है, अनन्त है। चर एवं अचर द्विविध जगत में हीनता आती रहती है, पर प्रभु अहि है, हीनता-रहित है। ऋत के ही ये दो रूप हैं। इन्हीं को गति एवं परमगति कहा जा सकता है। परमगति केन्द्ररूप प्रभु में है जो निरपेक्ष है और ऋत

का धाम है, परन्तु गति सापेक्षरूप में विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति, प्रगति-परागति, धन-ऋण, गुणा-भाग आदि विविध रूपों में दिखाई देती है। स्थूलगति के अतिरिक्त जो सूक्ष्म, मानसिक या वैद्युतिक अंतरिक्ष-स्थानीय गति है, वाणी की गति है, ऐश्वर्य, शोभा या कान्ति की गति है अथवा जो विराम (सद) में गति है—वे सब भी ऋत के ही नाना रूप हैं।

ऋत की ये सभी गतियाँ पुनः दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं, एक प्राचीन, द्वितीय प्रतीचीन; एक अभ्युदय की ओर ले जाने वाली, दूसरी निःश्रेयस की ओर उन्मुख, एक प्रवृत्ति दूसरी निवृत्ति। परमार्थ एवं व्यवहार दो दिशाओं की ओर खुले हुए यही ऋत के दो द्वार हैं। प्रभु इन द्वारों को सन्तापित न करें—इन्हें सुखपूर्वक खुले रखें जिससे हम पितृयाणमार्ग पार करते हुए देवयान में भी प्रवेश कर सकें। पितृयाण अभ्युदय का मार्ग है जो विविध ऐश्वर्यों के उपभोग की ओर ले जाता है। देवयान तृतीयधाम स्वर्ग से भी ऊपर ले जाता है।

प्रभु समस्त मार्गों के अधिपति हैं। वे ही विशषरूप से पार करने वाले हैं। देवयान मार्ग पर वही स्थिर–धीर-गति से चलाने वाले हैं। इस मार्ग में चलते हुए मेरा वे ही कल्याण करें।

ऋत के विविध स्वरूपों का जो विस्तार ऊपर वर्णित हुआ है, वह चेतन जगत एवं प्राकृतिक जगत दोनों से सम्बन्धित है। ऋत का तन्तु दोनों ओर विस्तृत हुआ है। पर अपने मूलस्थान से जब यह चल पड़ता है तो चार दिशाओं में फूट कर चार कोनों का निर्माण करता है। नीचे लिखे मंत्र में इसका वर्णन हुआ है :—

चतुः स्रक्तिः नाभिः ऋतस्य सप्रथाः। स नो विश्वायुः सप्रथाः सनः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषोऽपह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम। यजु० ३८-२०

ऋत की चार कोणों वाली नाभि चतुर्दिक् फैली हुई है। वह हमारी समस्त आयु में विस्तीर्ण है। वह विश्व भर की आयु में विस्तीर्ण है। हम इसके द्वेष और ह्वर (कौटिल्य) दो कोणों से पृथक् रहें और अन्य दो कोणों का सेवन करें।

मंत्र के शब्दों से स्पष्ट है कि ऋत के चार कोणों में दो निषेधपरक हैं। अतः इनसे अन्य अर्थात् भिन्न दो कोण विधिपरक होने चाहिये। द्वेष का विपरीत प्रेम है तथा कुटिलता का विपरीत सरलता है। ऋत के विस्तृत तन्तुओं में हमें द्वेष और कुटिलता से हटना है तथा प्रेम और सरलता को अपनाना है।

द्वेष और कुटिलता मानव-विकास में बाधा उपस्थित करते हैं। द्वेष वह जलन है जो मेरे अन्तस्थल को जलाती हुई शरीर पर तो प्रभाव डालती ही है, मेरे सम्पर्क में आने वालों को भी प्रभावित करती है। कुटिलता मेरे चिन्तन तथा कर्म-कलाप को स्वाभाविक नहीं रहने देती। इससे मुझे भी कष्ट होता है और दूसरों को भी।

द्वेष और कुटिलता से दुर्गुण बढते हैं तथा सद्गुणों का विनाश होता है। जिसके प्रति द्वेष है, उसके लिये अन्दर से शाप निकलेंगे, अनिष्ट करने पर ध्यान जायगा तथा उससे जो द्वेष करते हैं वे साथी बनेंगे। इस प्रकार द्वेष अपना एक पूरा परिवार बना लेगा। परिणाम यह होगा कि जिससे मैं द्वेष करता हूँ, वह मुझसे द्वेष करने लगेगा, मुझे शाप देगा, मेरा अनिष्टसाधन सोचेगा और मुझसे द्वेष रखने वालों का साथ देगा। दो व्यक्तियों का द्वेष बढ़ कर दो दलों के पारस्परिक द्वेष में परिणत हो जायगा। यह द्वेष संघर्ष का रूप धारण कर भीषण युद्ध की विकरालता उत्पन्न करेगा, जिसमें न जाने कितने व्यक्ति हताहत होंगे, कितनी स्त्रियाँ विधवा होंगी, कितने घर उजड़ जायेंगे, कितने नगर वीरान होंगे, कितना दुराचार फैलेगा

और वह आगे इसी संघर्ष-परम्परा को बढ़ाता हुआ कितने विकराल विनाश का कारण बनेगा।

कुटिलता भी इसी प्रकार मेरे स्वभाव का नाश करती हुई दूसरों पर प्रभाव डालती है और उन्हें भी उनके स्व-भाव में नहीं रहने देती। मैं किसी के साथ तिरछी चाल चलता हूँ तो वह भी मेरे साथ वैसी ही चाल चलेगा। परिणाम दोनों ही के लिये अहितकर होगा। मैं किसी के साथ दुराव करता हूँ तो वह भी मेरे साथ दुराव करेगा। मैं किसी से झूठ बोलता हूँ, तो वह भी या तो मुझसे झूठ बोलेगा या संपर्क रखना बन्द कर देगा। इससे शंका, संशय, भय आदि दुर्भाव उत्पन्न होंगे तथा पारस्परिक सौहार्द में विघ्न भी पड़ेगा। क्रिया और प्रतिक्रिया का जाल, इस प्रकार, मानव को उसकी सहज, सरल स्थिति से इतनी दूर ले जायगा कि वह अन्ततोगत्वा टूट जायगा। मानव मानव न रह कर या तो दानव और पिशाच बन जायगा या मिट्टी में मिल जायगा। चेतन का यह पराभव कितना दयनीय है। सरलता का परित्याग कैसे अंधकूप में गिराने वाला है।

भारतीय साधना और सूर साहित्य में हमने जिस हरिलीला की व्याख्या की है, वह जहाँ राधा और कृष्ण, सीता और राम, माया और ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष के युग्म वाली है, वहाँ इस युग्म का एक एक अंश भी अपनी युग्मता की विशेषता रखता है। शिव और रुद्र, पालन और प्रलय के रूप में उसका प्रकाश सर्वत्र हो रहा है, जो एक-तत्व के ही दो पार्श्व कहे जा सकते हैं। प्रेम द्वेष का ही दूसरा पार्श्व है, सरलता कुटिलता का ही विपरीत रूप है। मंत्र में इसीलिए स्रक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थान से सरकेंगे, तो हम उससे अन्य, भिन्न या विरोधी स्थान पर ही पहुँचेंगे। ऋण का दूसरा पार्श्व धन है। निषेध का दूसरा पार्श्व विधि है। मंत्र के अनुसार हमें एक से हटना

और दूसरे का सेवन करना है। द्वेष ऋणात्मक है। हिंसा और धोखा उसके दो पार्श्व हैं। (न किर्देवा मिनीमसि न कि रायोपयामसि। पक्षेभिः अपि कक्षेभिः अत्रअभि संरभामहे।) प्रेम भावात्मक है। इसके भी दो पार्श्व हैं; समर्पण और अनन्यता।

प्रेम और सरलता जीवन के दो भाव-पूर्ण पार्श्व हैं। एक हमें महत्ता, विस्तार, औदार्य तथा विश्वबंधुत्व की ओर ले जाता है, तो दूसरा हमें स्वभाव में स्थिर कर देता है, अपनेपन से पृथक् नहीं होने देता, हम केन्द्रस्थ रहते हैं, इधर-उधर नहीं भागते। केन्द्रस्थ रहना और परिधि को अपना ही विस्तार समझना विकास के दो मौलिक फल हैं, जिनकी उपलब्धि प्रत्येक विकास-पथ के पथिक के लिये वांछनीय हैं। ऋग्वेद नवम मण्डल के ११३ वें सूक्त में आर्जव या सरलता के साथी चार गुणों का वर्णन है—आपवस्व दिशाम्पते आर्जीकात् सोम मीढ्वः। ऋत वाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्राय इन्दो परिस्रव। सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप (द्वन्द्व-सहन) ये चार गुण, जहाँ सरलता होगी, वहाँ अवश्य विद्यमान होंगे। ऋत की नाभि की भाँति उसका एक कोना! आर्जव भी इन चार गुणों रूपी चार कोनों वाला है। द्वेष का विपरीत प्रेम भी चार कोनों वाला है। जहाँ प्रेम है वहीं सुख, प्रकाश, निर्भयता और कल्याण है। प्रेम में सब आत्मीय जान पड़ते हैं। विश्वभर बंधुत्व के नाते में आबद्ध हो जाता है। यही उदारता और व्यापकता है। उरुंनोलोकं अनुनेषि विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिरभयम् स्वस्ति-ऋग्वेद के इस मंत्र में इन्हीं चार अवस्थाओं का संकेत है। ऋत की नाभि की चार स्रक्तियाँ उसकी संतति में बड़ी दूर तक चली गयी हैं।

पहले मंत्र में वर्णित कर्म, ज्ञान और भाव वैयक्तिक हैं, राज्य, न्याय, सेवा आदि सामाजिक हैं। यह चेतनक्षेत्र है। पृथ्वी से द्यौ पर्यन्त प्राकृतिक

क्षेत्र है। मन्त्र में उसका वर्णन समुद्र के प्रतीक द्वारा हुआ है। ऋत का यह विशाल विस्तार सत्य या सत्ता को अधिष्ठान बनाकर हुआ है। गति निराधार नहीं होती। उसका कोई-न-कोई आधार होता है। ऋत और सत्य का भी इसलिये एक युग्म है। ऋत या गति स्वयं युग्मवती है। गति का मिथुनीभाव प्राकृतिक क्षेत्र में संकोच एवं प्रसारण में प्रकट होता है। इन्हीं को निमेष और निर्निमेष दृष्टि भी कहते हैं। ग्रहों की गति में भी यह युग्म दिखाई देता है। सूर्य की किरणें किसी फलक पर प्रतिबिम्बित होकर लौट जाती हैं। ग्रहों में शत्रु-मित्र भाव भी है। अग्नि की भेदक शक्ति में शोधक एवं पावक दोनों ही गुण विद्यमान हैं। वायु आदि भी मल का अपहरण तथा जीवन का सञ्चार दोनों गतियाँ रखते हैं। वृक्ष यदि दिन में कार्बन ग्रहण करते हैं तो औक्सीजन उत्पन्न भी करते हैं। पत्तियाँ यदि पीली पड़कर झड़ जाती हैं, तो नवीन हरी पत्तियों के निकलने का मार्ग भी साफ कर देती हैं।

चेतनक्षेत्र में प्राण और अपान ऋत के ही दो रूप हैं। पर ऋत का जो योग विकासपथ में दृष्टिगोचर होता है, वह चेतनक्षेत्र के अन्तःकरण की विशिष्टता है। द्वेष और कुटिलता अथवा प्रेम और सरलता के विचरण का वही क्षेत्र है। वहीं से चल कर ऋत के ये चार रूप शारीरिक एवं सामाजिक चेष्टाओं में प्रतिफलित होते हैं। द्वेष और कुटिलता मानव को गिराते तथा प्रेम और सरलता उसे उठाते हैं।

प्राकृतिक क्षेत्र के आकर्षण और विकर्षण चेतनक्षेत्र के प्रेम और द्वेष के ही अपर रूप हैं, पर वहाँ कुटिलता चाल में नहीं आ पाती—सरलता ही बनी रहती है। ग्रह और पिंड अपने सहजरूप से इधर-उधर नहीं भागते। घड़ी में लगी हुई चाबी की भाँति वे अपनी सहज गति में किसी के बाँधे हुए चले जा रहे हैं और प्रलय पर्यन्त चले

जायँगे। बीच में जो खण्ड प्रलय आ जाता है, वह भी उनकी गति का एक सहज रूप है।

मानव का कल्याण द्वेष से प्रेम की ओर तथा कुटिलता से सरलता की ओर चलने में है। सत् का आविर्भाव इसी पथ पर चलने से होता है। ऋत के निषेधात्मक पार्श्वों को छोड़कर तथा उसके विधिपरक या भावात्मक पार्श्वों को पकड़ कर ही मानव अपना विकास कर पाता है।

ऋत की प्रथमजा बुद्धि है जिसके प्राप्त होते ही वाणी का समस्त विभाग, निखिल वाङ्मय प्रकाशित हो उठता है। निर्मल, निरावरण ज्ञान सत्व की विशुद्ध अवस्था है।

सत् का यह आविर्भाव एवं सत् में स्थिति प्रभु के साथ हमारी सन्धि कराने वाले हैं। सत् को भी छोड़कर जब हम आत्मस्थ होते हैं, अशुभ एवं शुभ दोनों से दूर, तब हम ऋत के तन्तु से पृथक् हो जाते हैं। ऋत के वितत, विस्तृत, फैले हुये प्रशस्त एवं अप्रशस्त तन्तु को चीरकर ही हम आत्मतत्व के दर्शन कर पाते हैं और जो मूल में थे, वही हो जाते हैं। ऋत का धाम, अभीद्ध तप भी वही है।



वैदिक सम्पत्ति-भावना

श्री और लक्ष्मी

प्रभु का ऐश्वर्य यहाँ बिखरा पड़ा है। साधारण दूर्वा से लेकर ज्योतिर्मय मणियों तक की राशि विश्व में भरी पड़ी है। इसी वैभव में से कुछ अंश प्राप्त करके भगवती वसुन्धरा के कुछ सपूत लखपती और करोड़पती बन जाते हैं, पर यह लक्ष-कोटि संख्यक धन सबके पास सदैव नहीं बना रहता। प्राणियों के अपने परिश्रम के अनुरूप इसका सतत विभाजन होता रहता है। लक्ष्मी चञ्चल है। यह कभी किसी की संगिनी होकर नहीं रहती। किसी के निर्देश में बँधी हुई, यह गतिशीला निरन्तर चक्कर काटा करती है।

लोक-भाषा में धन को श्री तथा लक्ष्मी कहते हैं। समस्त धन की मूलभूता प्रकृति भी इन्हीं दोनों नामों से अभिहित होती है। वैदिक पुरुषसूक्त में श्री तथा लक्ष्मी पुरुष की दो पत्नियाँ हैं। पौराणिकों ने विष्णु के साथ श्री तथा नारायण के साथ लक्ष्मी का सम्बन्ध जोड़ा है। वस्तुतः एक ही शक्ति के ये दो रूप हैं। आचार्य वल्लभ ने इन्हीं को जगत् और संसार की मूलभूता शक्ति तथा गोस्वामीतुलसीदास ने अध्यात्म रामायण के आधार पर इन्हें विद्या और अविद्या का नाम दिया है। श्री सदैव प्रभु के आश्रय में रहती है। यह प्रकृतिस्वरूपा है। जो दिव्य प्राकृतिक शक्तियाँ प्रभु के प्रशिष, शासन अथवा आज्ञा का पालन करती हुई इस ब्रह्माण्ड के व्यवस्थित सञ्चालन में संलग्न हैं, वे भी श्री हैं। भक्त इन्हीं के सहारे प्रभु के आश्रय में पहुँचते हैं। लक्ष्मी नारायण से सम्बद्ध की गई है 'नाराः आपः' ऐसा मनु ने लिखा है। जल की निम्नगा प्रवृत्ति है। जिस धन का नर से सम्बन्ध होता

है, वह भी यही प्रवृत्ति रखता है। लक्ष्मी इस प्रकार सांसारिकता का रूप धारण करके उच्चावच परिस्थितियों को जन्म देती रहती है। चलती यह भी प्रभु के ही शासन में है, पर प्राणियों के कर्म-विपाक के साथ लगकर कभी सघन और कभी विरल रूप में भासित होती रहती है।

लक्ष्मी का रूप गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्न, आम, अनार, सेव आदि फल, रजत-स्वर्ण आदि धातुयें तथा प्रवाल-मणि-मुक्ता आदि रत्नों में अभिव्यक्त होता है। लक्ष्मी के ये विविध रूप भगवती वसुन्धरा के वक्षःस्थल पर बिखरे पड़े हैं। मानव ने इनका संस्कार अवश्य किया है, पर वह इनका उत्पादक नहीं है। उस बीजप्रद पिता ने इन अनन्त लक्ष्मी रूपों के अनन्त बीज यहाँ बो दिये हैं। इन्हीं बीजों में से कुछ बीजों पर अपना स्वामित्व स्थापित करके हम अन्न, फल आदि के उत्पादक होने का अभिमान करने लगते हैं। पर क्या गेहूँ की प्रथम बाल मैंने पैदा की थी? आम का प्रथम वृक्ष मैंने लगाया था? यदि नहीं, तो फिर यह मैं की मिमियाहट क्यों? मैं-पन का मिथ्या गर्व क्यों? यही मैंपन मेरे-तेरे-पन का जन्मदाता है। यही सांसारिकता है। यही बन्धन में डालने वाली प्रवृत्ति है। लक्ष्मी की यही तो माया है। किसी का श्रेय कोई अन्य लूट लेना चाहे, यह क्रीड़ा भी क्या कम कौशलमयी है?

तो, गेहूँ की प्रथम बाल कैसे निकली? इसके उत्तर के लिये लक्ष्मी नहीं, श्री के पास चलिये। बीज भरे पड़े हैं, पर वे कैसे अंकुरित होते हैं? क्या केवल धरित्री, अकेली, उन्हें बिना किसी की सहायता के ऊपर ले आती है? नहीं, माँ धरित्री की सहायता जल, पवन, अग्नि, सूर्य आदि सभी करते हैं। इन्हें आज्ञा ही ऐसी मिली है कि सब एक दूसरे की सहायता करते हुए विश्व के अभ्युदय में लगे रहें। यदि कहीं इनका काम बन्द हो जाय, तो अभी सबको लेने के देने पड़ जायँ।

धरित्री के अन्दर बीज है। ऊपर से मेघ बरसता है। जल बीज के पास पहुँचता है और आग्नेय तत्व के सहारे उसके ऊपर के छिलके को विदीर्ण करता है। वायु उसे नीचे से ऊपर लाती है और पृथ्वी के ऊपर आकाश में उसके दो दल चमकने लगते हैं। यही दो दल पुनः इन सब के सहारे क्रमशः वर्द्धमान होते हुए पादप का आकार ग्रहण करते हैं। समय आने पर फूल लगते हैं और फिर फल पैदा होते हैं। एक बीज के एक वृक्ष पर कितने फल और कितने बीज !! प्रभु के इस ऐश्वर्य की कोई इयत्ता है? इस धन की कोई सीमा है? इस वैभव का कहीं ओर-छोर है?

धरती माता कहे कि कोई कुछ करे, मैं अपने अन्दर पड़े हुए बीज को बाहर नहीं जाने दूंगी, तो क्या उसकी मनमानी चल सकेगी और यदि इसके विपरीत वह यह कहे कि मैं अकेली ही बीज को अंकुरित कर दूंगी; तो क्या वह अन्य शक्तियों के सहयोग के बिना ऐसा कर सकेगी? ज्ञान और विज्ञान भी सिर पटक कर रह जायेंगे, पर प्रभु की श्री रूप दिव्य शक्तियों के अस्तित्व और उनके पारस्परिक साहाय्य के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकेंगे।

लक्ष्मी के विविध रूप श्री से ही विकसित होते हैं। श्री भक्ति-रूपा है। भक्ति ही ज्ञान और कर्म दोनों के मूल में है। चेतना और पुरुषार्थ जो ऐश्वर्य को जन्म देते प्रतीत होते हैं, अन्त में समस्त धनों के धनी उस मूलपुरुष की भक्ति में ही अपना मूल पाते हैं। प्रभु का ऐश्वर्य बिखरा पड़ा है, पर मानव व्यर्थ में ही स्वार्थी बन कर आवश्यकता से अधिक का स्वामी बनने में स्वयं क्लेश उठाता है और दूसरों को क्लेश में डालता है। न वह अतिरिक्त धन का उपभोग ही कर पाता है और न दूसरों को करने देता है। पर नियति तो अपना कार्य कर ही रही है। उसके वशीभूत हो मानव को वह सब छोड़

देना पड़ता है, जिसकी उपलब्धि में उसे इतने अकाण्ड-ताण्डव करने पड़े थे। प्रभु का भक्त श्री महारानी की सहायता से लक्ष्मी के इन ऐश्वर्यशाली रूपों में आसक्त ही नहीं होता। प्रभु उसे अपना ऐश्वर्य स्वयं दे देते हैं[1]। ऋ० १-२७-७ के अनुसार वह शाश्वत धनों का स्वामी बन जाता है। पर क्या वह इस ऐश्वर्य से भी चिपटा रहता है? नहीं, इस ईश्वरता से भी ऊपर उठ कर वह उसी का बनता है। उसी का था भी।

वेद और धन

वेद में धन के लिए श्री तथा लक्ष्मी के अतिरिक्त वसु, अन्न, राधः, रयि आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यह रयि प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न कर दी थी। मानव का जन्म इसके पश्चात् हुआ। अत्ता से पहले अन्न और भोक्ता से पहले खाद्यसामग्री विद्यमान होनी ही चाहिए। सामग्री तो विद्यमान है पर भोक्ता उसका कैसा उपयोग करता है, चिंतन का यही विषय है।

धन की तीन गतियाँ

धन की तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं:—दान, भोग और विनाश। धन प्रभु का दिया हुआ है, अतः मानव को त्यागभाव से ही उसका भोग करना चाहिए। यजुर्वेद के ४० वे अध्याय के प्रथम मंत्र में कहा गया है :—

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'

अर्थात्—त्याग भाव से भोग करो। मानव जब जन्म लेता है तब खालीहाथ आता है और जब जाता है तब भी खालीहाथ जाता है। विश्व के वैभव का एक कण भी उसके साथ नहीं जाता। अद्वैतवादियों की

१. इन्द्रशुद्धोहि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे। ऋ०८-९५-९

कारिका के अनुसार जिस पर मेरा अधिकार न तो प्रारम्भ में है और न अन्त में, उसे वर्तमान में भी अनधिकृत ही समझना चाहिए। वास्तव में समग्र वैभव प्रभु का है, अखिल ऐश्वर्य पर ईश्वर का ही अधिकार है। इस ऐश्वर्य में से वह जीव को उसके कर्म-विपाक के अनुसार देता रहता है। अतः जो मानव धन पर अपना अधिकार समझते हैं, वे महाभ्रांति में पड़े हैं।

भोज प्रबन्ध में एक श्लोक आता है :—

मान्धाता समहीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यांतकः॥
अन्ये चाऽपि युधिष्ठिरप्रभृतयो यातादिवं भूपते।
नैकेनापि समंगता वसुमती मुंजत्वया यास्यति॥

भोज के पिता के मरने पर उसके चाचा मुंज ने अपना राज्य निष्कंटक करने के लिए भोज को समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। वधिकों को आज्ञा हुई कि वे भोज को बियावनखण्ड में ले जाकर मार डालें और उसकी आँखें निकाल कर ले आवें। वधिक भोज को वन में ले तो गए, पर उसे मारने का वे साहस न कर सके। उनकी असमंजसमयी वृत्ति से भोज को भी इस रहस्य का ज्ञान हो गया। उसी समय उसने अपने रक्त से उपर्युक्त श्लोक लिख कर मुंज के लिए वधिकों को दिया था। श्लोक के अनुसार प्रत्येक युग में चक्रवर्ती राजा हुए हैं। सतयुग में मान्धाता था, त्रेता में राम और द्वापर में युधिष्ठिर थे। इनमें से एक भी मृत्यु के बाद इस वसुधा को अपने साथ नहीं ले गया। इनमें एक भी नहीं रहा, पर वसुधा जहाँ की तहाँ आज भी विद्यमान है और यह जिसकी थी उसी की आज भी है। वही इसका अधिकारी है, मर्त्य मानवों में से कोई भी नहीं। मानव इसे प्राप्त करने के लिए उसी

अधिकारी के चरणों में प्रणत होता है और कुछ काल के लिए उसका उपभोक्ता बन जाता है।

अधिक धन नाश का कारण

उपभोग के बीच में कई स्थितियाँ आती हैं। किसी समय धन की मात्रा अधिक हो जाती है, इतनी अधिक कि वह मानव के उपभोग में भी नहीं आ पाती। ऐसी स्थिति में धन का उपयोग क्या होना चाहिए? अनुपयोग की अवस्था में धन मानव के पतन का कारण बन सकता है। वेद कहता है :—

या मा-लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा अभिचस्कंद वंदनेव वृक्षम्,
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितोधाः हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।

—अथर्व० ७-११५-२

प्रभु हिरण्यहस्त हैं। ऐश्वर्य, स्वर्ण हितकर और रमणीय रूप में उनके हाथों में चमक रहा है। वे ही इसका वितरण और विभाजन प्राणियों के अन्दर कर रहे हैं। पर जो धन प्राणियों के पास अजुष्ट अर्थात् असेवित है तथा उपयोग के बाहर है और परिणामतः पतन की ओर ले जाने वाला है, उसे मानव को स्वयं अभीप्सित व्यक्ति और स्थान के पास पहुँचा देना चहिये। ऐसा न हो कि एक व्यक्ति भूख के मारे तड़प-तड़प कर प्राण दे दे और दूसरे व्यक्ति के पास पड़ा हुआ अतिरिक्त धन उसके विनाश का कारण बने।

ऋ० ८-८१-४ में प्रभु को वसु का ईशान अर्थात् धन का स्वामी कहा गया है। धन पर जिसका स्वामित्व है, वशित्व है, वह धन से नहीं स्वतः अपनी शक्ति से चमकता है। हम इस धन के स्वामी न होकर दास बन जाते हैं और उसके सहारे चमकना चाहते हैं। यह अवस्था निर्माण नहीं, विनाश की सूचक है। जब धन मेरे ऊपर राज करने लगता

है, तब मैं उठते-बैठते, सोते-जागते, उसी के सपने लिया करता हूँ। वह एक प्रकार से मेरे जीवन का लक्ष्य, प्राधान्य बन जाता है और परिणामतः मुझे गंत्री बनाकर स्वयं सवार हो जाता है। मेरे ऊपर चढ़ा हुआ यह धन मेरा कचूमर निकाल देता है। मेरा अपना स्वत्व नष्ट हो जाता है। अतः मुझे धन का दास नहीं, स्वामी बनना चाहिये। मैं धन के लिये नहीं, धन मेरे लिये है—यह भावना ही मानव को विनाश से बचा सकती है। ऋ० ८-२१-१४ में ऐसे धनवानों की निन्दा की गई है, जो धन के नशे में मतवाले बने हुए पर-पीड़न में निरत होते हैं और हिंसक तथा शोषक का रूप धारण करते हैं। ऐसे रेवन्तों, आसुरी सम्पदा वालों को प्रभु का सख्य प्राप्त नहीं होता। ये मूढ़ निम्न-से-निम्न योनियों को, कृच्छ्रापत्तियों को, भोगते हुए अधम-से-अधम गति के भाजन बनते हैं। ऋ० १०-११७-१ के अनुसार क्षुधित, भूख से तड़पड़ाता व्यक्ति तो मृत्यु के मुख में जाता ही है, वे व्यक्ति भी उसकी आखेट बनते हैं जो खूब खाते-पीते हैं तथा भोग-विलास में आपाद-मस्तक मग्न रहते हैं। अथर्व० ७-११५-४ में इसी हेतु पुण्य लक्ष्मी के रमण तथा पापीयसी लक्ष्मी के विनष्ट हो जाने की प्रार्थना की गई है। ऋ० १०-३४-१३ में द्यूत को पापीयान् तथा कृषि को पुण्य धन माना गया है।

दान की महिमा

वेद में दान की महिमा अनेक स्थानों पर वर्णित है। ऋ० १-२९-४ में अदान वृत्तियों के शयन तथा दानवृत्तियों के जगरण की प्रार्थना है। ऋ० १-१-६ के अनुसार दान देने वाले का सदैव कल्याण होता है तथा १०-११७-१ के अनुसार उसकी सम्पत्ति कभी क्षीण नहीं होती। अथर्व० ३-४-५ में आज्ञा दी गई है कि सौ हाथों से धन इकट्ठा करो तो हजारों हाथों से उसका दान करो। स्फाति वा

फसल को बढ़ाने का यही उपाय है। अथर्व० १-१५-३ में धन को सतत प्रवाहित करते रहने का आदेश है। जो सरिताएँ सतत प्रवाहित रहती है, वे अपने अक्षय स्रोत से सम्बद्ध रहती हैं। इसी प्रकार धन का सतत प्रवाह, निरंतर दान उस महादानी से सम्बन्ध स्थापित कर देता है।

दान में त्याग का भाव है और त्याग यज्ञ के मूल में विद्यमान है। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना यज्ञ का ही एक विशाल रूप है। यज्ञ में वेदी पर बैठे हुए व्यक्ति कुण्ड के केन्द्र-भाग में प्रज्ज्वलित वैश्वानर अग्नि में आहुतियाँ डालते हैं। सौर्य-जगत् के केन्द्र में स्थित जाज्वल्य-मान सूर्य को भी ग्रहों तथा पिण्डों द्वारा आहुतियाँ मिल रही हैं। सृष्टि का एक-एक तत्व त्यागशील है। वायु सृष्टि में झाड़ू लगा रहा है, अग्नि अपावनता को दग्ध कर रहा है, जल कूड़े और कर्कट को बहा कर ले जा रहा है, सूर्य दूषित द्रव्यों के रस को खींचकर उनके संशोधन में लीन है। अपनयन की क्रिया के साथ दान भी चल रहा है। इस प्रकार समग्र जगत् यज्ञमय, दानशील एवं त्यागी बना हुआ जीवन की प्रणाली को अग्रसर करने में संलग्न है। तो क्या मानव सदैव के लिए स्वार्थी बना रहेगा? क्या वह त्यागशील जीवन को अपनाने के लिए उद्यत न होगा? और क्या वह सृष्टि की यज्ञ-प्रक्रिया में अपना सहयोग न देगा? विज्ञान हमें बताता है कि यहाँ उच्चशक्ति के अंश निरंतर अल्पशक्ति के अंशों के साथ संयोग कर रहे हैं और इस प्रकार विश्व में संतुलन बनाये रखने में अपना योग दे रहे हैं। मानव-सृष्टि के इस नियम से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वेद कहता है :—

> पृणीयात् इत्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसं अनुपश्येत् पंथाम्।
> ओहिवर्तन्तेरथ्येव चक्रा अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्तरायः॥
>
> ऋ० १०-११७-५

जो तव्य हैं अर्थात् धन देने के योग्य हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रार्थनाशील याचक को अपने धन का कुछ भाग अवश्य दे दें। उन्हें सोचना चाहिये कि जीवन का पथ विशाल है। इस सुदीर्घ जीवन-यात्रा में न जाने कौन सा दान किस समय काम दे। धन सबके पास एक जैसी दशा में नहीं रहता। वह रथ के पहिये की भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे जाता रहता है। आज अकबर के पास है तो कल शिवाजी के पास पहुँच जाता है। न यह हिटलर का सगा बनता है और न मुसोलिनी का संबंधी। यह कभी पठानों के पास था, तो कभी मुगलों के पास रहा और कभी अंग्रेजों के तो कभी हिन्दुओं के साथ रहा। अतः यदि आज मेरे पास धन है तो मैं उस पर अपना एकान्त अधिकार क्यों समझूँ? यह मेरे उपयोग में जितना आता है उतना अच्छा है; पर जो बचता है उसे उपयुक्त पात्र को दे देने में ही मेरा और उसका कल्याण है। मैं न भी दूँगा तब भी वह मेरे पास नहीं रहेगा; फिर उसे देने में संकोच क्यों हो? सामाजिक कर्तव्य की भी यही पुकार है कि जहाँ धन की अनिवार्य अपेक्षा है, वहाँ उसे बिना माँगे भी पहुँचा देना चाहिये। ऋ० १०-११७-६ में केवलादी को जो अपने आप खाता है, दूसरों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता, केवल पापरूप कहा गया है।

धन का सत् प्रयोग

प्रभु के ऐश्वर्य का, उसकी साधिका सम्पत्ति का अन्त नहीं है। उसकी पल-पल में नूतन रूप धारण करने वाली ऐश्वर्यमयता को हम समझ भी नहीं पाते। प्रचुर मात्रा में वह यहाँ प्रपूर्ण है। यह सम्पत्ति किसी एक की नहीं, हम सबकी साझी सम्पत्ति है। पिता के इस अपार धन पर हम सब पुत्रों का अधिकार है। यह अधिकार है तो सम ही, पर हमारे कर्मों से उसमें वैषम्य आ जाता है।

सूर्य का प्रकाश सब के पास सममात्रा में पहुँचता है, पर सब उसे सममात्रा में ग्रहण नहीं कर पाते। धन की भी यही दशा है। इसी कारण प्रभु का दान विविध रूपों में विभक्त दिखाई देता है। वह दे सब को रहा है। सबको पुष्टि उसी से प्राप्त हो रही है। वह धनद विश्वभर को धन बांट रहा है। उस तुविदेष्ण तथा तुवीमघ का वैभव सब के पास पहुँच रहा है, पर सर्वाधिक मात्रा में यह धन उसी का होकर रहता है जो इसे अपना नहीं, उसी दाता का धन समझ कर उपयोग में लाता है, जो खाता है पर भोजन को दाँतों में ही बाँध कर नहीं रख लेता, उसे दाँतों से मेदे में और मेदे से समग्र शरीर में पहुँचाता रहता है। अन्न का यही सत प्रयोग है। इसी प्रकार समस्त भौतिक धन का प्रयोग करना चाहिये।

वेद ने बाह्य सम्पत्ति के अतिरिक्त मानव का ध्यान आंतरिक सम्पत्ति की ओर भी आकर्षित किया है। ऋ० ८-४५-४१ की प्रार्थना में कहा गया है :—हे परमेश्वर्य-संपन्न ईश्वर! जो धन घोर विपत्तियों के भी बीच दृढ़, अविचल तथा स्थिर रहने वाले धीर पुरुष में होता है और जो धन द्रष्टा, विवेकशील ऋषि के पास है, वही धन स्पृहणीय है, वही धन तू मुझे भी दे। इन शब्दों में वेद बाह्य वैभव की अपेक्षा अन्तःवैभव की प्रशंसा करता है और उसे अधिक श्रेय देता है। वास्तव में मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा मन और मेरी बुद्धि, उत्तरोत्तर मेरी श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर सम्पत्ति है। इसका निरंतर संस्कार और सत की ओर प्रयोग मेरे कल्याण का कारण बनता है। अपने इन समस्त अवयवों को मुझे बलिष्ठ, यशस्वी और पवित्र बनाना है। इनकी बलिष्ठता मेरे तो काम आवेगी ही, दूसरों के कष्टों का निवारण करने में भी सहायक हो सकेगी। इनका सत् प्रयोग मुझे यश भी प्रदान करेगा, परन्तु इनकी बलवत्ता और मेरी यशःस्पृहा कहीं मुझे असत् के

गर्त में न डाल दे, इसलिये इन दोनों के ऊपर पवित्रता का अंकुश रख देने की आवश्यकता है। प्रभु परम पवमान हैं। उनसे बढ़ कर पवित्र यहाँ अन्य कोई भी नहीं है। उनके दान भी परम कल्याणकारी हैं, परम भद्र, परम पवित्र हैं। अतः उन्हीं के चरणों का आश्रय मेरे आन्तरिक तथा बाह्य वैभव को पवित्र बना सकता है।

वेद के अनुसार जीवन का आदर्श यज्ञ है। स्वार्थ पर अंकुश रखने वाला व्यक्ति इसी यज्ञ की ओर बढ़ता है। हाँ, यह यज्ञ दुः के स्थान पर सु होनी चाहिये। मानव को दुरिष्टि नहीं, स्विष्टि करनी चाहिए। दुरिष्टि नीचे ले जाती है, स्विष्टि ऊपर उठाती है। यज्ञ यदि दूषित भावना से किया गया, तो राग-द्वेष में फँस कर मानव पतित हो जायगा। रावण और उसका पुत्र मेघनाद दोनों यज्ञ करते थे, पर उनके अत्याचारों से आतंकित एवं पीड़ित होकर दण्डकारण्य की जनता त्राहि-त्राहि करने लगी थी। गीता ने यज्ञ के सात्विक, राजस तथा तामस तीन भेद किये हैं। इनमें सात्विक यज्ञ ही स्वीकरणीय है, राजस और तामस नहीं। सात्विक यज्ञ स्विष्टि है, तो राजस एवं तामस यज्ञ दुरिष्टि। सात्विकता ही श्रेयस्कर है। वेद ने दुर्यज्ञ और सुयज्ञ का अन्तर बताते हुए लिखा है :—

ये भक्षयन्तो न वसूनि आनृधुः यानग्नयोऽभ्यतप्यंतधिष्ण्याः
या तेषामवयादुरिष्टिः स्वष्टिम् नस्तांकृणवद्विश्वकर्मा।

अथर्व० २–३५–१.

जो मनुष्य खाता तो है पर खाद्यान्न को उत्पन्न नहीं करता, धन का उपभोग तो करता है पर अर्जन नहीं करता, जो खाऊ तो है पर कमाऊ नहीं है, उसे अग्निदेव सन्तप्त करते हैं। अर्जन-रहित उपभोग दुर्यज्ञ है, पर जो खाता है और साथ ही कमाता भी है, उपभोग से जो न्यूनता आ जाती है, उसकी अर्जन द्वारा पूर्ति करता रहता है, वह सुयज्ञ करता है।

दीपावली के पवित्र पर्व पर जब हम लक्ष्मी का पूजन करते हैं, तब हमें सुयज्ञ की इस पुनीत भावना को सदैव अपने हृदय में स्थान देना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारा और हमारे देश का भविष्य उज्ज्वल होगा। फिर यहाँ न तो श्रमजीवियों और पूँजीपतियों में संघर्ष होगा, न कृषकों और राजस्व-समाहर्ताओं में द्वन्द्व चलेगा। सभी अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देंगे और जब कर्तव्य की ओर ध्यान जायगा तो अधिकार, ऐश्वर्य, प्रभुत्व सभी अपने आप खिंचे चले आवेंगे।

दैवी रक्षण

वेद कहता है :—

एवा वस्वः इन्द्रः सत्यः सम्राट् हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवेकः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायः भक्षीय ते अवसो दैव्यस्य॥

ऋ० ४-२१-१०

वसु का, धन एवं ऐश्वर्य का सच्चा सम्राट् परमैश्वर्यस्वरूप परमदेव ही है। वही हमें क्रतु से, पुरुषार्थ से, कर्मशीलता से सम्पन्न करके ऐश्वर्य-लाभ के लिये समर्थ बनाता है। पग-पग पर हमें शक्ति, सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य के लिये उस इन्द्र देव के साहाय्य की अपेक्षा होती है। प्रभु अन्दर से और उसकी दैवी शक्तियाँ बाहर से निरन्तर हमारी रक्षा करती रहती हैं। इस रक्षण के बिना ऐश्वर्य कहाँ, धन कहाँ, अन्न कहाँ? कृषक को ही देखिये। वह दिन-रात परिश्रम करके अन्न उत्पन्न करता है। इस क्रिया में उसे प्रायः दैवी शक्तियों पर अवलम्बित रहना पड़ता है। वर्षा इनमें प्रमुख है। वर्षा का सम्बन्ध सूर्य, वायु और जल के साथ है। सूर्य प्राणों का भी प्राण है, एनर्जी और शक्ति का भण्डार है। इसके अभाव में जीवन पनप नहीं सकता। किसान के

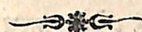
खेत में उगे हुए पौधे भी जीवन रखते हैं। यह जीवन उन्हें सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु सभी से मिलता है।

व्यापक दृष्टि से शक्ति और प्राण भी धन के ही अपर नाम हैं। जैसे अन्न धन है, वैसे ही शक्ति भी। जैसे अन्न हमारे बसने, आयु धारण करने के लिये आवश्यक है, वैसे ही शक्ति भी। अतः दोनों की वैदिक संज्ञा वसु है। दोनों हो बसाने वाले हैं। दैवी शक्तियाँ भी वसु कहलाती हैं। कारण के गुण कार्य में आते हैं। सूर्यादि वसुओं के भी गुण उनसे उत्पन्न अन्नादि में हैं।

खेत में उत्पन्न हुए धन का स्वामी कृषक है, पर उसका भी स्वामी राजा है, क्योंकि वह कृषक से उत्पन्न अन्न का छठा भाग कर के रूप में लेता है। कहा तो यह जाता है कि जैसे सूर्य ग्रीष्म में सरिताओं तथा समुद्रों के जल को वाष्परूप में ऊपर ले जाता है, पर उसे अपने पास नहीं रखता, कई गुने रूप में पुनः वर्षा के समय पृथ्वी को लौटा देता है, इसी प्रकार राजा अपनी प्रजा से कर लेकर अपना भंडार नहीं भरता, उसे पुनः रचनात्मक कार्यों द्वारा प्रजा को ही लौटा देता है। पर यह आदर्श है। सब राजा इस आदर्श का पालन नहीं कर सके। इसीलिये उन्हें राजा कहने में भी हमारे ऋषि संकोच का अनुभव करते रहे हैं।

जो सच्चा राजा है, वह आदर्श के निकट रहता है। वह अपने और अपने परिवार के भोजन के लिये भी प्रजा द्वारा प्रदत्त कर में से एक पाई तक नहीं लेता। ऐसा राजा मानवता की विभूति है। पर मानव मानव ही तो है। वह आदर्श के पास पहुँचना तो चाहता है, पर नहीं पहुँच पाता। कुछ-न-कुछ न्यूनता उसमें रह ही जाती है। परिपूर्ण यहाँ कौन है ? जिसे देखो, वही किसी-न-किसी दोष में ग्रसित है। इसी हेतु ऋषि अपने जीवन में किसी परिपूर्ण व्यक्तित्व की खोज करते रहे हैं।

वेद कहता है, पूर्ण तो यहां एक ही है। सच्चा सम्राट्, वसुओं का भी वसु, दाताओं का भी दाता, सबका उपास्य और पूजनीय एक ही है। इसे इन्द्र कहो, अग्नि कहो, सविता कहो, देव कहो, किसी भी नाम से पुकारो, ये सब नाम उसके एक-एक गुण का प्रकाश करने वाले हैं। उसी के गुणों के आधार पर प्राकृतिक पदार्थों और प्राणियों के भी गुण देख कर नाम रखे गये हैं। परमेश्वर में गुणों की चरम सीमा है, यहाँ उनका एक अंश, एक झलक। वह महान् दाता अपनी विस्तृत अपार धनराशि में से कुछ-न-कुछ भाग सब को दे रहा है। यद्यपि वह स्वयं एकान्त तपस्वी है, तथापि हम प्राणियों के लिये धन का जनक और उपभोग-सामग्री का देने वाला भी है। जिस साधक ने उसके इस गुण को पहिचान लिया, वह फिर उसी का होकर जीवन व्यतीत करता है और उसके दैवी रक्षण का अधिकारी बनता है। क्या हमें भी उसका दैवी रक्षण प्राप्त होगा ?



गृहस्थ में स्वर्ग

यजुर्वेद के आठवें अध्याय में नीचे लिखा मंत्र आता है, जिसका देवता गृहपति है :—

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

जिस गृहस्थ के घर में पूज्य महान् द्यौ के पाथ हैं, वह इन्द्रिय, वाणी, शक्ति आदि के पालन करने वालों में श्रेष्ठ जन है । गृहस्थ की आधार-भूमि विशुद्ध रूप से पार्थिव है । व्यावहारिकता, सांसारिकता लौकिकता की ही यहाँ बहुलता रहती है । आधुनिक पारिभाषिक शब्दों में इसे घोर यथार्थवाद या प्रत्यक्षवाद भी कहा जा सकता है । अर्थ और काम दो ही इसमें प्रधान हैं । अधिकांश गृहस्थ इसी में फँसे रहते हैं और अर्थ तथा काम से सम्बद्ध समस्याओं को सुलझाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य रहता है । ऐसे गृहस्थ को अलौकिक, आदर्शवादी, द्यौ तत्त्व की ओर प्रेरित करना बिरले व्यक्तियों का ही कार्य है । ऐसे व्यक्तियों को जो गृहस्थ में दैवी पथों का निर्माण करते हैं, वेद 'सुगोपातम' कहता है । 'गोपा' का अर्थ है इन्द्रियों का पालन करने वाला । एक पहलवान यही कार्य करता है । सुन्दर गोपा वह है जिसने सुचारु रूप से अपनी इन्द्रियों की रक्षा की है, जो धातु का, वीर्य का रक्षण करता है, क्योंकि उसी से इन्द्रियाँ अपनी शक्ति ग्रहण करती हैं । 'सुगोपातम' शब्द का अर्थ सब में श्रेष्ठ, शक्ति का रक्षक है । इन्द्रियों की रक्षा करने वालों में जो सर्वोत्तम है वही गोपातम है ।

गृहस्थ में द्यौ के मार्ग क्या हैं ? जीवन एक यज्ञ है । ब्रह्माण्ड भी यज्ञ का ही रूप है । गृहस्थ पर विचार करें तो वह भी यज्ञ रूप प्रतीत

होता है। मानव यदि इस आश्रम को यज्ञमय समझ कर चले तो निस्संदेह गृहस्थ स्वर्ग बन सकता है। द्यौ की पवित्रता के दर्शन उसे यहीं हो सकते हैं।

गृहस्थ में प्रवेश करते ही मनुष्य एक से दो हो जाता है। इसके पूर्व उसे अपनी ही चिन्ता थी, अब उसे अपनी पत्नी या पति की भी चिन्ता करनी पड़ती है। गृहस्थ में पति पत्नी का रक्षक बनता है और पत्नी पति का पालन करती है, दोनों एक-दूसरे के हित में अपना हित समझते हैं। यह स्वार्थ से निकल कर परार्थ में प्रवेश करना है, जिसमें परार्थ भी स्वार्थ ही है। पत्नी की रक्षा पति की ही रक्षा है और पति का कल्याण पत्नी का कल्याण है। इस भावना से समन्वित होकर ही गृहस्थ चल सकता है। अन्यथा नहीं। इसमें एक को दूसरे के लिए अपने-अपने 'स्व' का कुछ-न-कुछ त्याग करना पड़ता है। यज्ञ त्याग-भाव पर ही अवलंबित है।

त्याग के साथ दम्पति को संयम भी करना पड़ता है। शरीर, वाणी और मन तीनों का संयम अपेक्षित है। गुरुजनों की पूजा, माता पिता का आदर, पवित्रता से जीवनयापन करना, घर को साफ-सुथरा रखना, ब्रह्मचर्य का पालन, अहिंसा का व्यवहार शारीरिक तप में आते हैं। पारस्परिक संभाषण जो किसी को उद्विग्न न करे, सत्य, प्रिय तथा हितकर हो और धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय जिससे कर्त्तव्य का बोध होता रहे, वाणी का संयम या तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन रहना, मन का निग्रह करना और भाव को शुद्ध रखना मानसिक तप है। तप या संयम में अचापल तथा ह्री, लज्जा, शालीनता आदि भी आ जाते हैं। इनसे जीवन में कटुता दूर होती है और सामरस्य का संचार होता है। गृहस्थ में त्याग और तप दोनों ही उसे स्वर्ग में परिणत करने वाले हैं।

गृहस्थ को कर्मण्य बनना चाहिए। प्रमादी और आलसी व्यक्ति धनार्जन नहीं कर सकते। धन के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता। कर्म करने से तेज आता है। हाथ पर हाथ धरे किंकर्त्तव्य विमूढ़ बनने से श्री साथ छोड़ जाती है। दीन-हीन जीवन नरक का जीवन है। गृहस्थ को स्वर्ग बनाना है तो कर्म में निरत होना पड़ेगा। ऐतरेय ब्राह्मणकार ने जो 'चरैवेति चरैवेति-का उपदेश दिया है, वह जीवन का उत्थान करने वाला है। कर्मण्य व्यक्ति ही मधु का स्वाद समझ सकता है। यजुर्वेद के प्रथम मंत्र ने ही हमें श्रेष्ठतम कर्म करने की प्रेरणा दी है। कर्मण्य बनने का अर्थ ऊलजुलूल कर्म करना नहीं है। कुत्सितकर्मा प्राणी स्वयं दुखी होते हैं तथा दूसरों को दुखी करते हैं। कर्म करने का अर्थ शोभन, पावन, करणीय कर्म करना है। इस प्रकार के कर्त्तव्य-कर्म में लगे रहने से अहंवृत्ति का भी शमन होने लगता है जिससे स्वर्ग-सुख का अनुभव गृहस्थ को सुलभ हो जाता है।

सहानुभूति गृहस्थ के लिए आवश्यक भी है और सहज भी। दम्पत्ति एक-दूसरे के सुख-दुःख के संगी हैं। एक की प्रसन्नता दूसरे की प्रसन्नता है और एक का दुख दूसरे का दुख है। एक रुग्ण है तो दूसरा स्वस्थ नहीं रह सकता। भाव की दृष्टि हटा भी दीजिए तो भी प्राण-विज्ञान और शरीर-विज्ञान के आधार पर एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है।

इस प्रभाव को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक है कि दम्पति परस्पर सहानुभूति में बद्ध रहें। एक चारपाई पर पड़ा हो और दूसरा गुलछर्रे उड़ा रहा हो तो कार्य कैसे चलेगा? एक को दूसरे का दुख बँटाना चाहिए, तभी सुख भी दोनों का समान स्तर पर आ सकेगा।

सहनशीलता भी गृहस्थ के लिए आवश्यक है। यदि किसी ने कुछ अपशब्द कह दिया या विरुद्ध कार्य कर दिया, तो उससे तुनक

कर, हृष्ट या क्रुद्ध होकर आपे से बाहर नहीं होना चाहिए। उस समय उसका सह लेना ही श्रेयस्कर है। बाद में अनुकूल अवसर पाकर शान्ति से समझा देना चाहिए कि अपशब्द या विरुद्ध कार्य कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं और उनसे जीवन कितना किरकिरा बन जाता है। सौहार्दपूर्वक यदि एक-दूसरे को सहन करता चलेगा तो एक दिन घर के सभी सदस्य सौमनस्य का अनुभव करने लगेंगे। सहनशीलता में अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, मार्दव, धृति तथा क्षमा की भावनायें भी सम्मिलित हैं। धैर्यपूर्वक शान्ति का वायुमण्डल बनाये रहना इन सभी भावों पर अवलंबित है। गीता ने इन्हें दैवी सम्पदा में स्थान दिया है जो मोक्ष का कारण है। प्रत्येक गृहस्थ को पंच महायज्ञ प्रतिदिन करने चाहिए। ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय तथा ईश्वर-उपासना), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (माता-पिता की पूजा), बलिवैश्वदेव (मानवेतर प्राणियों का ध्यान रखना) और अतिथियज्ञ (घर पर आये हुए साधु, परोपकारी विद्वान् संतों का सत्कार) गृहस्थ को स्वर्ग की ओर ले जाने वाले हैं। इन सब का पर्यवसान दिव्यता में होता है। पंचमहायज्ञ गृहस्थ को पवित्र बनाने वाले हैं। पवित्रता द्यौ लोक की सीढ़ी है। इससे यह लोक तो बनता ही है, परलोक भी सुधरता है। यज्ञहीनों के लिए यह लोक ही नहीं है, परलोक की तो बात ही क्या।

द्यौ की ओर प्रयाण आध्यात्मिक दृष्टि से सूक्ष्म बनना है। बोध-वृत्ति, मनन और चिन्तन की वृत्ति इससे सूक्ष्म, कुशाग्र तथा सद्यः-ग्राहिणी बन जाती है। महीन कपड़ा जैसे अल्प परिश्रम और किंचित् साबुन की रगड़ से ही साफ हो जाता है, वैसे ही द्यौ की ओर चलने वाला साधनाशील व्यक्ति मन और बुद्धि के क्षेत्र में इतना तरल, इतना सूक्ष्मग्राही बन जाता है कि स्वल्प संकेत ही उसके लिए पर्याप्त होते

हैं। उन्हें ग्रहण कर वह आवरणों को चीरता हुआ, कुपथ का धीरता से अतिक्रमण कर जाता है और सुपथ पर चलने लगता है। मोटा कपड़ा पृथिवी की भाँति कड़ा और दृढ़ है जिसे साफ करने में परिश्रम भी अधिक पड़ता है तथा साबुन भी अधिक खर्च होता है।

गृहस्थ को स्वर्ग बनाना है तो हमें उपर्युक्त दैवी-पथों का अवलम्बन करना पड़ेगा। आसुरी पथ तो यहाँ प्रभूत मात्रा में दिखायी देते हैं। ऐसे-ऐसे निर्दय, क्रूर, हिंसक, निर्मम, हत्यारे यहाँ मौजूद हैं जो अपनी विवाहिता पत्नी को नारकीय क्लेश देते हैं, क्लेश ही नहीं चाकू और छुरों से मार-मार कर उसे समाप्त कर देते हैं और घर के ही अन्दर मिट्टी का तेल डाल कर जला देते हैं। हिन्दू जाति में कुछ दिन पहले कुछ वर्गों की तो यह विशेषता ही थी कि वे जन्म लेते ही कन्या को मार डालते थे। विवाह होने के पश्चात् आततायितापूर्वक वध करने वालों को क्या नाम दिया जाय? क्या ये मानव हैं? विज्ञान के बढ़ते हुए चरण जिस सभ्यता के उपक्रम में लगे हैं उसमें यह जघन्य कर्म अब भी कुछ वर्गों की अमानवता, नृशंसता एवं हिंस्र पशुता प्रकट कर रहा है। ऐसे व्यक्ति इस धराधाम को अपने गर्हित, पाशवकृत्यों से नरक बनाये हुए हैं।

वेद-मंत्र का अनुसरण करते हुए हमें अपने निवास गृहों को यज्ञिय और पवित्र बनाना चाहिये। गृहस्थ में स्वर्ग का अनुभव दैवी पथों पर चलने से होगा। हम सभी सुख चाहते हैं, फिर सुखप्रदाता दिव्य पथ पर आज ही अभी ही क्यों नहीं चल पड़ते?



मातृ तथा पितृ अंश

मैं अपनी परम्परा को खोजते हुए यदि पीछे की ओर चला चलूँ तो एक ओर एकता और दूसरी ओर विविधता के दर्शन पग-पग पर उपलब्ध होंगे। मेरे शरीर में मेरे माता-पिता के ही अंश नहीं हैं, प्रत्युत् उनके माता-पिता, फिर उनके भी माता-पिता और फिर उनके माता-पिता आदि न जाने कितनी लम्बी मातृ-पितृ-परंपरा के अंश विद्यमान हैं। यह विविधता विस्मयजनक है और कोई भी व्यक्ति इस पर विचार करके बहुत देर तक स्तब्ध सा बना रहेगा। मेरा सम्बन्ध सुदूर पीछे कहाँ-कहाँ और किस-किस तक है? इसे समझ लेना तो दूर, कल्पना में ले आना भी कठिन है। पर यह जड़-चेतनात्मक विविधरूपा सृष्टि अपने मूल रूप में जहाँ से उत्पन्न हुई है, वहां एक ही माता है और एक ही पिता है। गीता ने महद् ब्रह्म को योनि और भगवान् को बीजप्रद पिता कहा है जिनसे विश्व की विविधरूपा मूर्तियाँ प्रकट हुई हैं। सांख्य ने इन्हें पुरुष और प्रकृति का नाम दिया है। वेदान्त इन्हीं को ब्रह्म और माया कहता है। वेद के अनुसार ये रुद्र और पृश्नि हैं। वेद में इन्हें अन्य नाम भी दिये गये हैं। रुद्र को अग्नि, इन्द्र, भगवान्, प्रभु, शिव, विष्णु, वरुण, मित्र, यम आदि तथा पृश्नि को स्वधा, शची, अव्यक्त, प्रधान, त्तर, अजा, पिलिप्पिला, वृत्त, पिशंगिला, अजरा, उत, अप, अदिति, सिंधु, ब्रह्म, त्रिधातु, आदि कहा गया है। यहाँ पहुँच कर विश्व की विविधता एकत्व में परिणत हो जाती है। वेद के अनुसार हम सबका मूल पिता रुद्र सतत युवा है और स्वपा है। सतत युवा का अर्थ निरंतर क्रियाशीलता है। जिसकी शक्ति क्षीणता नहीं जानती, वही

युवा है। हम शक्तिशालिता शनैः शनैः प्राप्त करते हैं और प्राप्त करके कालान्तर में उसे खो देते हैं। अतः वह हमारे स्वभाव का अंग नहीं है, आगमापायी है। परन्तु प्रभु की शक्ति स्वाभाविक है, कहीं बाहर से उस पर थोपी नहीं गई। स्वपा के दो अर्थ हैं: सु + अपा तथा स्व + पा, शोभनकर्मा तथा स्व का रक्षक— जिसे किसी अन्य की अपेक्षा अपनी रक्षा में न पड़े। स्व का अर्थ शक्ति या प्रकृति ही है। परमात्मा को अपनी शक्ति या प्रकृति की रक्षा करने में किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति द्वारा निर्मित यह विशाल ब्रह्माण्ड ईश्वर द्वारा संचालित हो रहा है। जीव अपनी बुद्धि से इसमें अनेक विघ्न डालता है, पर यह ब्रह्माण्ड टस-से-मस नहीं होता। आप चाहे जितने विषाक्त बमों के परीक्षण कीजिये, रौकेट और मिसिल्स चलाइये—स्वल्पकाल के लिये तो इससे वातावरण में हलचल होगी, वैसी ही जैसे ढेला मारने पर समुद्र तरंगित दिखाई देता है, पर वह अपना स्थायी प्रभाव नहीं रख सकती।

ऐसे स्वपा युवा रुद्र के हम पुत्र हैं। रुद्र का अर्थ है जो रोगों को दूर करे अथवा जो मृत्यु समय सम्बन्धियों को रुलावे। प्रभु जब जीव को एक शरीर से खींच कर दूसरे में प्रविष्ट करता है, तो स्वभावतः सम्बन्धियों का माया-मोह उमड़ पड़ता है और वे रोने लगते हैं। अथवा जब हम रोगग्रसित, विकल, विपन्न और दुखी हो जाते हैं, तो प्रभु ही हमारी व्याकुलता को दूर करते हैं। अतः हम सब को सुख की ओर ले जाने वाले रुद्र भगवान् ही हैं।

प्रकृति पृथ्वी है। वह सुदुघा और सुदिना है, खूब दुही जाती है, दूध देती है और सुखदायिनी है। यही हमारी माता है। ऐसे माता-पिता की संतान होकर हम सबको ज्येष्ठता और कनिष्ठता का विचार परित्यक्त करके एक साथ कंधे से कंधा मिला कर सुभगता के लिये आगे बढ़ना

चाहिये। सौभाग्य की आकांक्षा कौन नहीं करता? दुर्भाग्य से कौन चिपटना चाहता है? सबकी कामना अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की ओर जाती है, सभी अभ्युदय और उत्थान की इच्छा रखते हैं। पर अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हम सब भ्राताओं को मिल कर एक दूसरे की परस्पर सहायता करते हुए, अपनी और सबकी संवर्धना में संलग्न होना है। अपनी ही नहीं, सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी है। सम्भूय समुत्थान की यह भावना कल्याणकारिणी है। जो व्यक्ति केवल अपनी उन्नति करता है, उसकी उन्नति भी केवल उसके अपने पुरुषार्थ से सिद्ध नहीं होती—उसे उन्नतिपथ पर अग्रसर करने में उसके हितकारक, मित्र, बंधु, गुरु आदि न जाने कितने व्यक्तियों का हाथ रहता है।

सौभाग्य या सुभगता को ही वेद ने अन्यत्र रयि नाम दिया है, यथा—'अग्ने नय सुपथा राये' 'वयं स्याम पतयोरयीणाम्' 'महे राये बोधय'। हमारे शरीर में माता तथा पिता दोनों के अंश हैं। अतः यह रयि अथवा सुभगता भी दो प्रकार की है। हमें दो दिशाओं में अभ्युत्थान करना है। माता से हमें हाड़ मांस का शरीर मिला है और पिता से चैतन्य। हमें अपने शरीर को सुभग बनाना है और चैतन्य को जाग्रत करना है। शरीर तीन प्रकार का है:—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण। कुंभकार जैसे मिट्टी को कमाता है, वैसे ही अपनी मिट्टी को हमें कमाना है, व्यायाम, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा इसका संशोधन करना है। इसमें जो हिरण्य है, वीर्य है, उसके वर्चस को सुरक्षित रख कर इंद्रियों के तेज को वर्धमान करना है। मन का तेज इसी साधना पर अवलम्बित है। उसकी मननशक्ति इसी से क्रियाशील होगी। बुद्धि का सत्व भी शुद्ध हो सकेगा। शुद्ध सत्व की स्थिति ही मानव को निष्पापता की ओर ले जाने वाली है।

पर यह त्रिविध शरीर आत्मतत्व पर पड़े हुए तीन पाश हैं,

आवरण हैं। वेद में प्रभु से प्रार्थना की गई है कि वे हमें इन तीनों पाशों से मुक्त कर दें। स्थूल शरीर अधम कोष है, सूक्ष्म शरीर मध्यम और कारण शरीर उत्तम कोष है। ये कोष पाशकी भांति मुझे जकड़े हुये हैं। इनसे मुक्ति तभी मिलेगी जब मैं बाहर से अन्दर तक परिमार्जित, शुद्ध सत्व की अवस्था में पहुंचूंगा। जब तक मैं पाशों में जकड़ा हूं, तब तक खण्डित हूं, पग-पग पर भ्रान्ति और प्रमाद का शिकार बनता हूं। जब मैं विशुद्ध सत्व में स्थित हो जाता हूँ, तभी अखंड बन पाता हूँ।

अन्तिम पाश तो प्रभु की कृपा से ही कटता है, क्योंकि जब मैं उस अवस्था में पहुँच जाता हूँ, तब मैं उसे स्वयं छोड़ नहीं पाता। जिस मिट्टी को इतना कमाया है, इतना गोड़ा है कि वह रगड़ खाते-खाते चमकने लगी है, उसकी वह चमक, स्वर्ण जैसी दीप्तिमती दमक अपने पाश में जीव को बांधे न रहे तो और क्या करे? पर जब तक जीव इसमें जकड़ा है, सत्य के मुख पर जब तक हिरण्यमय पात्र का ढक्कन रखा है, तब तक सत्य, अपना रूप, दृष्टिगोचर भी तो नहीं होगा।

जीव की दुविधामयी अवस्था यहीं चरम कोटि को प्राप्त करती है। यहीं पर वह अपने समीप वर्तमान प्रकृति के सत अंश को छोड़ नहीं पाता और अपने ही अन्दर स्थित, निकटस्थ प्रभु को देख नहीं पाता। द्विविधा की यह ग्रन्थि उसी के काटे कटेगी जिसने इसे जोड़ा है। यहां तक मातृ अंश के परिशोधन का विषय है।

जैसा लिख चुके हैं, मातृ अंश मिला है, तो उसे फेंक नहीं देना है। मैंने इसे विकृत किया है तो मैं ही इसे सम्हालूंगा भी। तप रूप अन्नमय कोष को गोड़-गोड़ कर, कर्तृत्व शक्ति द्वारा चमका कर, आभामय बना कर, रजरूप प्राण तथा मन को संयम की सान पर चढ़ा कर, ज्योतिर्मय बना कर, द्वेषादि से निकाल कर सतरूपा बुद्धि

को निर्मल बनाना है। सुभगता प्राप्ति का यह प्रथम रूप है। कणाद ने इसी को अभ्युदय और वेद ने इसी को अभीष्ट की प्राप्ति कहा है।

इसके अनन्तर निःश्रेयस अथवा पीति, पूर्ण तृप्ति, की सुभगता है। यही वह श्रेष्ठ रयि है जिसके लिये जीव इतनी दौड़ धूप करता है, इतना तप, योग, याग, दान, ज्ञान आदि का साधन जुटाता है। पर जब देखता है कि मैं अपने रूप में अब भी अवस्थित नहीं हो पाता, तो उस परम देव की शरण ग्रहण करता है। यही प्रपत्ति मार्ग है। आचार्यों ने इसी को भक्ति कहा है। निःश्रेयस की प्राप्ति, पूर्ण तृप्ति की उपलब्धि, सौभाग्य की अन्तिम अवस्थिति इसी से जीव के हाथ लगती है। आत्मा का यही सर्वस्व है। सुभगता की यही चरम सीमा है। अंग्रेजी के प्लेजर (Pleasure) तथा हैपिनेस (happiness) निम्न श्रेणी के सौभाग्य हैं, तो ब्लिस (Bliss) उनसे उच्चतर श्रेणी का। नमस्कार मंत्र[1] में आये हुये दो शब्द मय और शम् तथा हिन्दी के शब्द सुख और शान्ति इन्हीं दो सौभाग्यों का द्योतन करने वाले हैं। एक में हमारा मातृअंश निहित है, दूसरे में पितृ अंश। विकासवाद में एक को प्रोटोप्लाज्म (अणुता या पुद्गलता) तथा दूसरे को साइकोप्लाज्म (चेतनता) कहा गया है। गीता इन दोनों को क्षेत्र के अन्तर्गत रखती है।



१ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च। नमः शंकराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च॥

वेद और काम

नासदीय सूक्त में काम के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह सृष्टि के पूर्व ही विद्यमान था और मन का प्रथम रेत या बीज था। कवियों ने अपनी बुद्धि द्वारा हृदय में खोज की तो उन्हें सत् का यह बन्धु असत् में ही प्राप्त हो गया।

इससे यह सिद्ध होता है कि काम रचना से भी पूर्व का है और मन का प्रथम कारण है। यह सत् का बंधु है, प्रत्येक सत्ता या अस्तित्व का सम्बन्धी है और सत के असत् अर्थात् विनश्वर प्रसार में भी ओत-प्रोत है।यह है काम का मूल रूप और उसका विस्तार।

उपनिषदों के ऋषि जहाँ रचना का उल्लेख करते हैं वहाँ सर्व-प्रथम काम का ही वर्णन आता है। ईश्वर सृष्टि रचने की कामना करता है, फिर तप तपता है, तब रचना का प्रारम्भ होता है। प्रश्नोपनिषद में इस काम को ईक्षण कहा गया है।

जो काम सृष्टि के मूल में है, वही फलता फूलता अपनी सन्तान के अंग-अंग में भी भ्रमण करने लगता है। मूल से विस्तार या फैलाव में जाकर काम का रूप विकृत हो जाता है। जैसे गंगा हिमालय से निकल कर मैदान में बहती हुई अन्त में बंगाल की खाड़ी में मग्न हो जाती है और अपने मूल स्वच्छ रूप का परित्याग करती हुई कलकत्ते के पास अत्यन्त मलिन रूप में प्रकट होती है, वैसे ही काम अपनी शाखाओं और प्रशाखाओं में विकृत होता जाता है। श्रुति भगवती के शब्दों में :—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्मां अभिसंविशस्व अन्यत्र पापीरपवेशया धियः॥

अथर्व ।९।२।२५।

काम का जो शिव स्वरूप है उसको अपनाकर मानव जो चाहता है, उसी को सिद्ध कर लेता है। अतः काम के शिव स्वरूपों को ही अपने अन्दर प्रविष्ट करना चाहिए। उसका जो अशिव रूप है और जो पापीयसी बुद्धि एवं क्रियाओं का जनक है उसे दूर कर देना चाहिए। गीता जिस काम को मार डालने की आज्ञा देती है, वह काम् का यही अशिव रूप है।

काम के शिव स्वरूप की प्रशंसा वेद के कई मंत्रों में वर्णित हुई है। अथर्व वेद के नवम काण्ड के द्वितीय अध्याय का जो मंत्र ऊपर उद्धृत किया गया है उससे पूर्व सप्तम मन्त्रमें काम को अध्यक्ष, उग्र और वाजी कहा गया है। अध्यक्ष सबके ऊपर बैठता है। उसकी दृष्टि सबके ऊपर पड़ती है। जो सबको देखता रहेगा, वह उनका नियंत्रण भी कर सकेगा। नियंत्रण के लिये तेज और बल की भी आवश्यकता पड़ती है। मंत्र में आये हुये शब्द उग्र और वाजी इन्हीं दोनों तत्वों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार काम तेजस्वी है, बलवान है और सबका अध्यक्ष है। इन शक्तियों से समवेत होकर ही वह पुरुष के सपत्नों का पराभव करता है। मानव के दुर्धर्ष शत्रु प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, द्वेष आदि काम के इस उग्र और वाजी स्वरूप के आगे नतमस्तक होते हैं अथवा इसके प्रकट होते ही अपसरण कर जाते हैं। मानव का क्षेत्र विघ्न-बाधा-रहित और उन्नति करने के योग्य बन जाता है। यही नहीं, काम के इस रूप के साथ दिव्य शक्तियाँ भी सम्बद्ध हो जाती हैं। वे आह्वान करते ही आ जाती हैं और पुरुष को दिव्य लोकों में प्रवेश पाने का पात्र बना देती हैं।

उसी स्थल के मंत्र ११ में लिखा है कि काम सपत्न या शत्रुओं को मार कर पुरुष के विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र तैयार कर देता है।

काम की इस शक्ति के साथ पुरुष सभी दिशाओं में आदरणीय बनता है और सब ओर से उसे अभीष्ट फलों की प्राप्ति होने लगती है।

मंत्र १७ के अनुसार देवताओं ने इसी काम की सहायता से असुरों को मार भगाया और इन्द्र ने दस्युओं को पराजित किया। मंत्र १९ में काम को नासदीय सूक्त के ही अनुसार सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ माना गया है, जिसकी श्रेष्ठता को देव, पितर, मर्त्य आदि कोई भी प्राप्त नहीं कर सकते।

अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त ५२ में भी काम को मन का प्रथम बीज कहा गया है। वह विभु और विभावा है, अपने पश्चात उत्पन्न हुए सभी पदार्थों में व्यापक है और अनेक रूप धारण करने वाला है। इसकी सहायता से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मुक्ति में भी यह जीव के साथ रहता हुआ उसे इष्ट दैवी भोगों का आस्वादन कराता है। जीव किसी का दर्शन करना चाहता हैं तो इसी की सहायता से चक्षु बन जाता है और सुनना चाहता है तो श्रोत्र बन जाता है। वह ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं से तृप्त हो जाता है। वेद में जहाँ-जहाँ ऐसी प्रार्थनायें आती हैं कि जिस कामना को लेकर हम यज्ञ करते हैं वह कामना प्रभु की कृपा से पूर्ण हो, वहाँ काम के इसी शिव स्वरूप को प्राप्त करने की प्रार्थना है।

सारांश यह है कि काम का यह शिव अथवा भद्र रूप अपनाने के योग्य है। उसका त्याज्य अंश वही है जो अशिव और अभद्र है। अशिव रूप तो भारस्वरूप है जिसे छोड़ देने में ही कल्याण है, पर शिव रूप को तो सब ओर से और सभी प्रकार से ग्रहण करना है। उसे छोड़ दिया तो पुरुष का पुरुषार्थ ही समाप्त हो जायगा।

प्रभु शिव की सीमा हैं, भद्र की पराकाष्ठा हैं। उनके अन्दर उत्तमता का चरम बिन्दु है। वे सुभग हैं तथा सुभगता के स्रोत हैं।

जैसे वृक्ष से शाखायें फूट-फूट कर चतुर्दिक् प्रसृत होती हैं, वैसे ही प्रभु से, शिव के स्रोत से शिवत्व की, सौभाग्य की, कल्याण की कुल्यायें निकल कर चारों ओर जाती हैं। जो पात्र हैं, आकर्षण ग्रहण के केन्द्र हैं, वे इन्हें प्राप्त करते हैं और कल्याण के भाजन बनते हैं। उत्तमता के इसी स्रोत, शिव स्वरूप प्रभु को प्राप्त करने के लिए जीव यहाँ भटक रहा है। उसके तप, दान, यज्ञ आदि सभी कार्य इसी एक की सान्निध्य-प्राप्ति के लिए हैं। काम का भद्र रूप इस उद्देश्य में जीव का सहायक बनता है, अतः वह भी ग्रहण करने योग्य है।

इस प्रकार वेद के अनुसार काम के दो रूप हैं: शिव और अशिव। अपनी साधारण अवस्था में मानव इन दोनों रूपों को प्रसन्न होकर धारण करता है। पर जब साधना उसे काम के अमंगलकारी रूप से परिचित करा देती है, तो वह उसका परित्याग कर देता है, उसे मार डालता है और काम के शिव स्वरूप के साथ अपने ध्येय को सिद्ध करने में समर्थ होता है।

काम का शिव स्वरूप प्रभुभक्ति की देन है। इसके बिना मानवता के विनाशक अज्ञान, आलस्य, प्रमाद, राग, द्वेष आदि शत्रु सफल होकर संसार में अंधकार फैलाने के कारण बनते हैं। इसी से सिद्ध है कि वेद के पवित्र उपदेश मानवता का त्राण करने वाले हैं। जो सम्प्रदाय वेद के इस सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं, वे मानवता के सच्चे पथ-प्रदर्शक नहीं हैं। हमें अन्धकार नहीं, प्रकाश की ओर चलना है।



गीता और काम

गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में पुरुष किसके द्वारा प्रयुक्त होकर पापाचरण करता है? ऐसा प्रश्न उठाया गया है। पुरुष नहीं चाहता कि मैं पाप करूँ, पर जैसे कोई बलात् उसे पाप की ओर ढकेल रहा हो, ऐसी स्थिति पुरुष के सामने आ जाती है। इस स्थिति में वह विवश होकर पाप की ओर प्रवृत्त होता है। उसका पैर फिसलता है और वह रपटता हुआ पाप-भँवर में डूबने-उतराने लगता है।

यह स्थिति कब आती है? गीता के शब्दों में 'यह काम के साथ उत्पन्न होती है।' गीता ने काम के साथ क्रोध का भी नाम लिया है, पर आगे वर्णन काम का ही किया है, क्रोध का नहीं। गीता के मतानुसार क्रोध काम से उत्पन्न होता है। अतः जन्य-जनक दोनों का एक साथ नाम ले दिया है। जनक ही जन्य है। जनक के वर्णनमें जन्य का वर्णन आ ही गया, फिर दोनों का नाम लेने से क्या लाभ? मेरी सम्मति में क्रोध का उल्लेख न किया जाता, तो भी कोई हानि नहीं थी।

काम रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह रजोगुण किसमें स्थित है? पुरुष में? ऐसा तो गीता कहीं भी नहीं कहती। रजोगुण प्रकृति के अन्दर है। प्रकृति के इस रजोगुण के साथ पुरुष का सम्पर्क होता है, तभी काम की उत्पत्ति होती है। यह काम बड़ा भोगी है, बड़ा पापी है, यही है पुरुष का शत्रु। जब तक पुरुष इस शत्रु का वध नहीं करेगा, तब तक वह पाप का भागी बनता रहेगा।

जैसे धुएँ से अग्नि घिर जाती है, मल से दर्पण धूमिल हो जाता है और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार यह काम पुरुष को आच्छादित कर लेता है। अंधकार से आवृत होने पर जैसे कोई सत्ता

न अपने आप को देख पाती है और न उस अन्धकार को चीर कर दूसरों को ही देख सकती है, वैसे ही काम से घिर कर पुरुष अपने स्वरूप को भूल जाता है, साथ ही अन्यों को भी नहीं पहिचान पाता।

काम ज्ञान पर परदा डाल देता है। यह ज्ञानी का नित्य शत्रु है। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ काम नहीं रह सकेगा और जहाँ काम होगा वहाँ से ज्ञान तिरोहित हो जायगा। काम सर्वभक्षी अग्नि है। इसके प्रज्वलित होते ही ज्ञान भस्म हो जाता है।

जैसे कोई सवार घोड़े पर बैठ कर घोड़े को मनचाही चाल से चलाता है और जिधर चाहता है उधर ही घोड़े को ले जाता है, उसी प्रकार काम रूपी सवार बुद्धि, मन और इंद्रियों के घोड़ों पर बैठकर इन्हें अपनी गति प्रदान करता है। काम के वशीभूत हुई बेचारी बुद्धि अपना-सा मुँह लिए रह जाती है, मन की समस्त मनन शक्ति कुण्ठित हो जाती है और इंद्रियाँ काम के ही उद्वेगों को खिलाने, पिलाने और नचाने में संलग्न हो जाती हैं। काम इन्हीं तीनों के द्वारा ज्ञान पर छा कर पुरुष को मोह में डाल देता है।

गीता ने आगे इस काम को मार डालने का उपाय बताया है। जैसे कोई व्यक्ति अंगुलि पकड़ कर पहुँचा पकड़ता है अथवा किसी घर के अन्तिम प्रवेश तक पहुँचने के लिए पहले बाहर का द्वार खोलना या तोड़ना पड़ता है, उसी प्रकार काम के गढ़ पर आक्रमण करने के लिए सर्वप्रथम इंद्रियों को वश में करना चाहिए। यदि इन्द्रियों पर नियंत्रण हो गया तो ज्ञान-विज्ञान-विनाशी काम की मानो अंगुलि पकड़ ली गई, अथवा उसके गढ़ का मानो सिंहद्वार तोड़ दिया गया।

इन्द्रियों को वश में करना सरल नहीं है। ये बड़े-बड़े साधकों तक के छक्के छुड़ा देती हैं और उनके चंगुल से निकल भागती हैं।

आँखों को जहाँ रूप दिखाई दिए, कानों को जहाँ शब्द सुनाई दिए कि ये साधक की साधना को धता बता कर भागे और अपने प्रिय साथियों के साथ एक हो गए। इन्द्रियाँ ऋषि हैं पर संगमन करना इनको भी बड़ा प्रिय है। यदि पुचकार कर, संगमन-लोभ से भी कोई बड़ा लोभ दिखाकर इन्हें अधीन कर लिया, तो आगे बैठा मन इनका भी चाचा है। उसको वश में कर लेना बड़ी टेढ़ी खीर है। इन्द्रियों के चुप हो जाने पर भी यह सरपट दौड़ लगाता है, और इन्द्रियों के विषयों में ही विचरण करने लगता है। है तो यह अन्दर की ज्योति, पर बाहर के पदार्थों से भेंट करता हुआ यह न जाने कहाँ कहाँ की सैर करने लगता है। साधक कहता है :—"प्यारे मन ! क्यों भाग रहे हो ? तुम्हारे अपने ही घर में क्या कमी है ? इसी खूँटे से क्यों न बँधे रहो ? अन्दर ही क्यों न रमण करो ? यह व्यर्थ के संकल्प-विकल्प उठाकर क्यों दुनियाँ में भटक रहे हो ? इनसे विश्राम क्यों नहीं ले लेते ? कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ कर भानुमती की तरह अपना कुनबा क्यों बढ़ा रहे हो ? इससे तुम भी परेशान होते हो और परिणामतः मैं भी। इससे क्या लाभ ?" यदि साधक ने चेतावनी दे देकर मन को समझा लिया और अपनी ओर कर लिया, तो मानों काम के गढ़ का उसने दूसरा द्वार तोड़ लिया। दूसरी ड्योढ़ी पार करते ही काम के अन्तःपुर के दर्शन होने लगते हैं। अन्तःपुर में बैठी हुई बुद्धि महारानी काम राजा की पत्नी बनकर अपने स्वरूप से विस्मृत और काम की हाँ में हाँ मिलाती हुई न जाने क्या-क्या अनाप-सनाप निर्णय करती रहती है। इसके निर्देश और आदेश भला साधक का क्या भला कर सकते हैं ? इसको काम की संगति से पृथक् किया जाय, तब तो यह अपना भला-बुरा सोच सके। सबसे बड़ा आक्रमण जो काम साधक के ऊपर कर सकता है, वह बुद्धि को भड़का देना है एवं उससे अपने

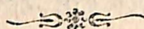
अनुकूल काम करवाना है। यह बुद्धि के साथ व्यभिचार करना है। सती साध्वी बुद्धि अपने पति आत्मा से पृथक् होती है और काम की परकीया पत्नी बनती है। इसे काम से छुड़ाने और आत्मा के साथ युक्त करने में साधक को महान् परिश्रम करना पड़ता है। पर जब परिश्रम सफल होता है तो साधक के भी पौ बारह हैं। अब बुद्धि काम के नहीं, पुरुष के—आत्मा के अधीन है। अब काम न्यायाश्रित हो या तो गढ़ छोड़ कर भागे या फांसी पर चढ़े। कामदेव बुद्धि के ऊपर भी सवार थे—अपने मूल रूप में काम वैसे भी बुद्धि से पूर्व ही विद्यमान है—बुद्धि के परे होकर ही वे बुद्धि को अपना अधिष्ठान बना सके थे। अब बुद्धि के आत्मवशीभूत हो जाने से अपना अधिष्ठान खो बैठे। आश्रय-रहित होकर काम कहाँ रहेगा? अपने मूलरूप में—ईक्षण में-परमात्म शक्ति में। यही उसका इधर से मर जाना है। साधक इस प्रकार आत्मवशी बनकर, अपने साधनों और सहायकों को साथ लेकर, काम से उन्हें छुड़ा कर—पारतन्त्र्य से मुक्ति दिलाकर—अन्त में काम को मार डालता है। यह मरण काम राजा को राज्य से पदच्युत कर देना है; उसकी शक्तियाँ छीन कर, उसे निःसंग करके उसके मूल-रूप के साथ एक कर देना है। जिसके पास कोई शक्ति नहीं रही, वह शक्तिहीन मृत के ही तुल्य है। काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि के बल पर ही इतनी छलांगें भरता, इतना उछलता-कूदता था। जब ये तीनों शक्तियाँ उसके हाथ से निकल गईं, तो उसका उछलना भी बंद हो गया।

गीता ने इस प्रकार पुरुष को पाप की ओर प्रवृत्त करने वाले काम का वर्णन किया है; उसे रजोगुण से उत्पन्न कहा है और जिन अधिष्ठानों के आश्रय से वह पुरुष को विमोहित करता है, उन्हीं के

क्रमशः स्वतंत्र होने तथा आत्मा के नियन्त्रण में आने से पुरुष को पाप से पृथक् करने वाले मार्ग का निरूपण किया है।

काम से घिरी हुई आत्मा शनैः शनैः इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर पड़े हुए आवरणों को दूर करती हुई, स्वयं काम-जाल से स्वतंत्र होती है। स्वतंत्र अवस्था में ही उसे आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है और उस ज्ञान-प्रकाश में वह प्रकृति का परित्याग करके परमेश्वर के सान्निध्य का अनुभव करती तथा आनन्दित होती है।

विकास क्रम में आवरणों से मुक्ति, स्वरूपावस्थान तथा अमृत-भोग तीन पृथक-पृथक स्थितियाँ हैं। एक के पश्चात् दूसरी स्थिति आती है, परन्तु एक की उपलब्धि का अर्थ दूसरी की उपलब्धि नहीं है। आनन्तर्य बीच में अपरिहार्य है। अन्तिम स्थिति के उपरान्त कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। अमृत का उपभोग अमृत बनना ही है।



भक्ति और काम

जगत् और जीवन दोनों के मूल में काम है, ऐसा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है।[1] प्रश्नोपनिषद के प्रथम प्रश्न में जब कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी ने महर्षि पिप्पलाद से प्रजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो उन्होंने प्रजापति को सर्वप्रथम प्रजाकाम अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाला ही कहा है। प्रश्नोपनिषद् के अन्तिम प्रश्न में भी जिन षोडश कलाओं का वर्णन है, उनका मूल इच्छा है। ऐतरेय १, १, १ तथा १, ३, १ में इसे ईक्षण कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली के षष्ठ अनुवाक में 'सोऽकामयत' कहकर इसे काम का ही नाम दिया गया है। गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में बाह्य स्थूल भूतों अथवा उनसे बने हुए शरीर से परे इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि, और बुद्धि से परे काम का वर्णन है। जो जिसका पूर्वज है, जनक है, वह अपनी संतति में आश्रय पाता ही है। काम भी सबका मूल होकर सब में समाया हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है। इसकी यह व्याप्ति इसके प्रभविष्णु रूप को प्रकट कर रही है।

जो काम सृष्टि के मूल में है, उसे प्रश्नोपनिषद् ईक्षण का नाम देती है। प्रकृति की प्रथम विकृति में आते ही इसकी संज्ञा काम हो जाती है और मन के विकार तक पहुँच कर यह तीन दिशाओं में विभाजित हो जाता है। मन में कुछ जानने की इच्छा मनीषा कहलाती है, संवेदन-क्षेत्र में यही जूति और क्रिया-क्षेत्र में वश के नाम से प्रख्यात

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।

ऋ० ८, ७, १७ अथर्व० १९, ५२।३१

है। इन तीनों का एकीकरण बुद्धि में है; परन्तु मन में आते ही क्षेत्र अलग-अलग हो जाते हैं। मन के पश्चात् इन्द्रियाँ आती हैं। मन का त्रिविध काम दश इन्द्रियों में दश प्रकार धारण कर लेता है। विश्व का एक भाग मेरे लिए प्रिय है, तो दूसरा अप्रिय। जगत् के सूक्ष्म तथा स्थूल विविध दृश्य एवं व्यापार मेरे मन के लिए इन्हीं दो भागों में विभाजित हैं। यह विविधता इच्छाओं और वासनाओं को भी विविध रूप प्रदान करती है। जो काम बुद्धि से सम्बद्ध है वह अज्ञेय है; पर मन की, ज्ञान और कर्म की इच्छाएँ समझ में आ जाती हैं। काम को मनोभव कहते हैं; पर वस्तुतः काम मन का भी बीज है। अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त ५२ में कहा गया है कि मूल काम अपने संतति रूप काम के साथ विविध रूपों में प्रकट होता है। सम्पत्ति, पोषण, उग्रता, ओज, स्वर्ग आदि इसके अनेक क्रिया-क्षेत्र हैं। मनु भी लिखते हैं :—

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिक :—२
संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रताः नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः :—३
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचिद्
यद् यद् हि कुरुते किञ्चिद् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्—४

मनु०—२

वैदिक ज्ञान और कर्म-योग दोनों ही कामना करने के योग्य हैं। काम समस्त संकल्पों का मूल है, यज्ञ संकल्प से उत्पन्न हुआ है, व्रत और यम नियमादि धर्म सभी संकल्प-प्रसूत हैं, यहाँ सब कुछ काम की चेष्टा का ही परिणाम है।

काम का जो रूप श्रेयस्कर है, वह प्रपञ्च से सम्बद्ध होकर अमङ्गल-जनक भी बनता है। यह प्रपञ्च स्थूल रूप में भूख और प्यास में

प्रकट होता है। वैसे इच्छाएँ अनेक हैं जिनकी पूर्ति साधनों की अपेक्षा रखती है। साधनों के अभाव में इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं और मानस-ग्रन्थियों को जन्म देती हैं। इन ग्रन्थियों के सुलझाने में मानव उचित अनुचित का विचार भी छोड़ देता है। जो इच्छा तृप्त हो जाती है, वह पुनः पूर्ति के लिए अग्रसर होती है। इस प्रकार इच्छाओं का अन्त नहीं हो पाता और परिणामतः मानस ग्रन्थियाँ बढ़ती रहती हैं। मनुष्य का जीवन साधन जुटाने में ही समाप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—'डासत ही गइ बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयौ'—बिछौना बिछाते ही बिछाते जीवन रूपी रात्रि का अवसान हो जाता है, प्रगाढ़ निद्रा का सुख क्षण भर के लिए भी प्राप्त नहीं हो पाता।

मानव को जो कुछ प्राप्त है उसी से संतुष्ट होकर यदि वह अपनी प्राप्त शक्तियों के विकास में जुटे तो वह क्लेशों से बहुत कुछ दूर हो सकता है। ये शक्तियाँ मेरे अन्दर हैं पर उनके विकास की चिन्ता मुझे नहीं होती। मेरा प्रधान लक्ष्य मुझ से बाहर रखी हुई वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा है। अन्दर न जाकर बाहर दौड़ लगाना ही मानव की निम्नगा प्रवृत्ति है, जो कभी अनुकूल सुख और कभी प्रतिकूल दुःख का कारण बनती है।

सुख और दुख के द्वन्द्व से ऊपर आनन्द की अवस्था है। काम का मूल रूप इसी के लिए लालायित रहता है। यही आत्म-तृप्ति है जो बाहर की वस्तुओं में प्राप्त नहीं हो सकती। एक सम्राट की अपेक्षा कलाकार का जीवन आत्मसंतुष्टि का जीवन है। मनन, चिन्तन और निदिध्यासन से प्राप्त तृप्ति और भी अच्छी है। पर इनसे भी बढ़ कर तृप्ति निखिल आनन्द के स्रोत, परम प्रभु के साथ है। जीव, जब प्रकृति

के प्रपञ्च को छोड़कर इस आनन्दमय प्रभु की अनुभूति करने लगता है तभी वह आनन्दी बनता है। काम का यही ऊर्जस्वीकरण है। प्रपञ्च में ज्वाला है। ज्वाला से बचने के लिए प्रच्छाय शीतल स्थान चाहिए। परम प्रभु आनन्द के निकेतन हैं। वे ही अन्तिम विश्राम-स्थल हैं। उनकी शीतल छाया समस्त सन्ताप को नष्ट करने वाली है। भक्ति-भावना साधक को इसी आनन्द-धाम परमात्मा की गोद में बिठा देती है।

प्रभु की गोद में बैठना मानों उनका संयोग प्राप्त करना है। भक्ति-भवानी का अनुग्रह प्रपञ्च से पृथक कर देता है। काम का ऊर्जस्वित रूप इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

भक्ति का काम के साथ जो रूप विदेशी सूफी सम्प्रदाय तथा एतद्देशीय वैष्णव सम्प्रदायों में परिलक्षित हुआ, वह अपनी पृथक विशेषता रखता है। शाश्वत वियोग की प्रतिष्ठा, संयोग में भी वियोग की सम्भाव्य आशंका और इस आधार पर क्षण-क्षण में प्रेम की परिपक्वावस्था की ओर प्रयाण—ऐसे प्रस्थान हैं जो काम को निरन्तर परिमार्जित करते रहते हैं। काम का इस शुचि, मेध्य एवं उज्ज्वल श्रृंगार में परिणमन भक्ति-भावना के ही समान कल्याणकारी सिद्ध हुआ है।



गोपाल

गोकुल के गोपाल का जीवन गोपों, गोपियों और गौओं के बीच व्यतीत हुआ। आज न वह गोकुल रहा, न गोप रहे, न गोपियां और न गौएं। जिन द्वादश वनों में गौएं हरित दूर्वांकुरों को चरतीं, हुम्बा-रव से दिग्दिगन्त को आह्लादित करतीं और दुग्ध-धार से गोपों के शरीर को पुष्ट किया करती थीं, वे वन भी आज दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं।

विशिष्ट देश और काल की वस्तुएँ कुछ समय तक अपना रंग-रूप स्थिर रखती हैं; परन्तु वे सनातन नहीं होतीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्तित्व ऐसे अवश्य होते हैं, जिनकी छाप समय के ऊपर गहरी पड़ती है। भगवान् श्रीकृष्ण जिन्हें गोपाल भी कहते हैं, ऐसा ही महाप्राण व्यक्तित्व रखते हैं। पर अपने जन्म के पूर्व वे भी इस व्यक्तित्व से शून्य थे। नीचे हम वेद के आधार पर ऐसे गोपाल और गौओं का वर्णन करते हैं जो थे, हैं और सदैव रहेंगे।

ऋग्वेद (६, २८, ३) में यह मन्त्र आता है :—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह॥

इसमें एक गोपति अर्थात् गोपाल है जिसकी गौएं कभी नष्ट नहीं होतीं, चोर जिन गौओं को चुरा नहीं सकता (गोपाल की गौओं को तो ब्रह्मा चुरा भी ले गए थे और वे अपने गोष्ठों से भी दूर-दूर भाग जाया करती थीं) शत्रुकृत व्यथा जिनका धर्षण नहीं कर सकती (गोपाल कृष्ण को जरासंध के १७ बार के आक्रमणों से मथुरा छोड़नी

पड़ी थी और वे द्वारका में जाकर रहने लगे थे। उनकी गौओं को भी धेनुक, प्रलम्ब, केशी आदि दैत्यों ने व्यथित किया था) जिन गौओं द्वारा देवयजन किया जाता है और अन्त में जो देवों को ही समर्पित कर दी जाती हैं, उन गौओं के साथ गोपाल सदैव संयुक्त रहता है। अध्यात्म में ये गौएं इन्द्रियां हैं और गोपाल आत्मा है। आत्मा से इन्द्रियां कभी वियुक्त नहीं होतीं। शरीर के गोलक तो जन्म के साथ प्रादुर्भूत और मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं, परन्तु इन्द्रियां, जो वस्तुतः इन्द्र—आत्मा—की ही शक्तियां हैं, सदैव उसके साथ बनी रहती हैं। मृत्यु के उपरान्त प्राणों के साथ ही ये चली जाती हैं और मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का साथ नहीं छोड़तीं। शक्ति अपने शक्तिमान् से पृथक् हो ही नहीं सकती।

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं : बाह्य और आभ्यन्तर। पाँच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां बाह्य हैं, क्योंकि इनका मुख बाहरको खुला है। ये बाहर भरे हुए ज्ञानामृत में डुबकी मार कर उसका कुछ-न-कुछ अंश आत्मा के पास सदैव लाया करती हैं। आभ्यन्तर इन्द्रियां अन्तःकरण कहलाती हैं और चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। इनका आन्तर जगत् के साथ सम्बन्ध है। बाहर का ज्ञान मन में जाकर पचता और अपनी विभिन्नरूपता छोड़कर एकाकार बनता है। यह एकता बुद्धि में जाकर सगुण सत्तामात्र रह जाती है। चित्त में नाना जन्मों के वासनापुञ्ज एकत्र हैं। अहंकार इन सबका संचालक है।

इन्द्रियों के उभय प्रकार जगत्-सम्बन्ध से अपने विशुद्ध शक्ति रूप का परित्याग कर बैठते हैं, अतः अभ्यास द्वारा साधक इनका परिष्कार किया करते हैं। यह परिष्कार दोनों प्रकार की इन्द्रियों में तीन रूप धारण करता है। अथर्ववेद के (१७-१-२७) निम्नांकित मन्त्र में इनका वर्णन इस प्रकार है :—

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाऽहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥

बाह्य इन्द्रियों का परिष्कार शुक्र के संयम से होता है और वर्चस्व में उसकी अभिव्यक्ति है। जो साधक कृतवीर्य है, भोजन के सात धातुओं में पकने के उपरान्त जो शुक्र की स्थिति आती है, वह स्थिति जिसके अधिकार में है, उसकी इन्द्रियां प्राणमयी, शक्तिमयी तथा यशोमयी बनती हैं। उसकी वाणी में ओज, दर्शन में प्रखरता तथा श्रवण में आशुग्राहिता व्याप्त हो जाती है। वह कर्म-कौशल का धनी बन जाता है। उसके अवयव पुष्ट एवं सत्तम होते हैं। वह अपने कार्य के साथ दूसरों को भी सहायता प्रदान करता है। यह वर्चस्व प्राणशक्ति के साथ उसके समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जो कृतवीर्य नहीं है, जिसने अपने शुक्र की सावधानी से सुरक्षा नहीं की है, उसके मुखमंडल पर यह वर्चस्व दिखाई नहीं देता।

वर्चस्वी अंगों के अन्दर मन कश्यप की ज्योति से परिपूर्ण होना चाहिए। यह आन्तरिक साधना है। कश्यप अपने मूलरूप में पश्यक है जिस तक पहुँचने के लिए मनन रूपी सोपान पर चढ़ना होता है। मनन और चिन्तन का स्थान श्रवण से ऊपर है। मनन ही मन को ज्योतिष्मान् बनाता है और यह ज्योति ही उसे पश्यक अर्थात् द्रष्टा का पद प्रदान करती है। बाह्य इन्द्रियां भी ज्योति की साधिका हैं, परन्तु मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जब इसे पश्यक की ज्योति प्राप्त हो जाती है, तब समस्त मनन और चिन्तन दैवी रूप धारण कर लेते हैं। कश्यप ज्योति के ऊपर प्रजापति का ब्रह्म है, ज्ञान है। ज्ञान स्वयं ज्योति है। यह महत्तम शक्ति है। यह अभेद्य कवच है जिससे आवृत हो कर साधक अदब्ध, अवेध्य तथा अपराजित हो जाता है। जिस साधक ने वर्चस्, ज्योति और ज्ञान के कवचों से अपने को ढक

लिया, वह सहस्र वर्षों जैसे दीर्घकाल तक जीवन व्यतीत करता हुआ सुकृत का धनी बन जाता है। वह वस्तुतः गोपाल होता है, अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है। उसकी इन्द्रिय रूप गौएं हँसती हुई मोदमती, तेजस्विनी तथा शक्तिशालिनी होती हैं।

वर्चस्व और प्राणवत्ता परस्पर संबद्ध हैं। प्राणों का आह्वान करते हुए ऋग्वेद (५-५७-१) में वैदिक ऋषि कहते हैं :—

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ॥
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः तृष्णजेन दिव उत्सा उदन्यवे ॥

प्राण ! आओ, तुम रुद्र हो, रोगों को दूर करने वाले हो, निर्बलता को रुलाने वाले हो। तुम इन्द्रवन्त हो, आत्मा तुम्हारे साथ रहती है; जहां तुम हो, वहीं आत्मा है, जहां तुम नहीं हो, आत्मा वहां निवास नहीं करती, तुम्हारे प्रयाण के साथ आत्मा भी प्रयाण कर जाती है, तुम्हें छोड़ कर आत्मा रह नहीं सकती। तुम अनुपम स्नेही और सेवा करने वाले हो। तुम्हारी गति निश्चित रूप से रमणीय है अथवा यह रमणीयता के साथ हितसाधन करने वाली भी है। मेरा सुवित, उत्तम रक्षण, तुम्हारे ऊपर ही अवलम्बित है। अतः प्राण ! आओ, मेरी मति आज तुम्हारी वैसी ही कामना कर रही है, जैसी प्यासे चातक के अन्दर दैवी जलधाराओं की कामना होती है।

जब आत्मशक्ति से समवेत प्राण शरीर में संचार करते हैं, तो प्राणी अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। उसकी उमंग, उसका उत्साह, उसकी स्फूर्ति, उसकी कार्यतत्परता, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा देखते ही बनती है। एक अद्भुत तेज उसके मुखमण्डल को प्रदीप्त करता रहता है, मस्तक पर श्री और अङ्ग-अङ्ग में मण्ड की आभा विराजमान हो जाती है। वह सक्रियता का मूर्तिमान् रूप धारण कर लेता है।

इस प्राण को ज्योतिर्मय मन सहायता पहुँचाता है। प्राण बलवान् भी हो, पर यदि उसे मन की ज्योति का सहारा न मिले, तो वह नितान्त पंगु है। मन की ज्योति ही उसे गतिशील बनाती है। धनुर्धर अर्जुन की समस्त प्राणवत्ता मन की कातरता के साथ निर्मूल हो चली थी। द्रोणाचार्य जैसे महारथी मन के पुत्रशोक से आक्रान्त होते ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो रथ में लेट गए थे। दूसरी ओर मन की ज्योति के जागरित होते ही चन्द वरदायी पृथ्वीराज को पराधीन अवस्था में भी स्वाधीन कर सका; छत्रपति शिवा जी औरंगजेब के चंगुल से और सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेजों के दूतजाल से बाल-बाल बचकर निकल गये।

मन की दिव्यता, ज्योतिर्मयता के सम्बन्ध में यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के वे ६ मन्त्र पढ़ने और विचारने योग्य हैं जिनका अन्तिम चरण "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" से समाप्त होता है। यहाँ हम अथर्ववेद (७, ५२, २) का एक मन्त्र उद्धृत करते हैं जो दैवी मनकी प्रशंसा में लिखा गया है :—

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्स्थुः बहुले विनिर्हते, मेषुः पप्तद् इन्द्रस्याहन्यागते॥

हम दैवी मन से कभी पृथक् न हों। मन की दिव्यता ही सम्यक् ज्ञान और विमर्श की ओर ले जाती है। यह ज्ञान और विमर्श ही हमें ऐसा सामर्थ्य प्रदान करते हैं, जिससे हम कष्टों का पहाड़ टूटने पर भी नहीं घबड़ाते और अत्यधिक प्रसन्नता के अवसरों पर फूल के कुप्पा नहीं हो जाते, अपने आपे से बाहर नहीं हो जाते, अपनी सीमा में बने रहते हैं। यह संतुलन की अवस्था दैवी मन द्वारा ही सम्पादित और सिद्ध होती है। अन्धकार और प्रकाश, दुःख और सुख, जन्म और मरण में अविचलित अथवा वेद के शब्दों में 'अ-या' बने रहना दैवी मन की ही करामात है, मन की ज्योति का ही चमत्कार है।

मन की ज्योति का स्रोत दैवी बुद्धि का आदेश है। यदि बुद्धि आसुरी है, स्वार्थ-लिप्त है, तो वह कल्याणपथ का निर्देश कर ही नहीं सकती। यदि प्रकाश को ही तम आवृत कर ले, तो कहाँ का दर्शन और कहाँ की नीति? अन्धता ही अन्धता चतुर्दिक् फैलेगी, उसी का शासन चलेगा। सत्य अहिंसा, तप, दान, यज्ञ आदि सभी दैवी भाव अपना-सा मुंह लिए खड़े-खड़े रुदन करेंगे। फिर मानव को श्रेय का नहीं, घोर निर्ऋति, कृच्छ्रापत्ति का सामना करना पड़ेगा जिसमें सत, शुभ और भद्र धाँय-धाँय करके जलने लगते हैं। अतः साधक दैवी बुद्धि का ही पल्ला पकड़ता है। आसुरी बुद्धि का तिरस्कार करता हुआ वह यज्ञिय बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करता है। उसे अपना भद्र इसी में निहित दिखाई देता है।

दैवी बुद्धि को अंगीकार करने के लिए ऋषि देवों का आह्वान करते हुए ऋग्वेद (१२-१०-९) में कहते हैं :—

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥

देवो, तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है, पवित्र है। उससे सदैव यज्ञ कर्मों का ही विस्तार होता है। ऐसी आपकी पवित्र पूज्य बुद्धि को आज मैं भी अपने अन्दर स्थापित करना चाहता हूँ। इसी से मेरी रक्षा होगी। यही मेरे लिए सहस्र धाराओं में दुग्ध देने वाली महीयसी गौ का कार्य करेगी। बड़ी गौ का सहस्रधारोष्ण दुग्ध जैसे पुष्टिकारी है, वैसी ही पुष्टिकारिणी आपकी बुद्धि होगी। देव, अपनी यही बुद्धि मुझे दे दो।

बड़ी श्यामा गौ सरल, चिक्कण, सतोगुणी जौ का सेवन करती है। देवों की बुद्धि सदैव सतोगुण-प्रधान याज्ञिक अनुष्ठानों का अनुसरण,

सेवन और उनमें रमण करती है। यजन-शीलता मानों दैवी बुद्धि का ही दूसरा नाम है। यज्ञ शब्द का उच्चारण करते ही देव-भाव आकर उपस्थित हो जाता है। आर्जव-प्रधान देवों की धी—सरल, प्रकाशमय, सत्व-सम्पन्न देवों की सुमति—हमें क्या नहीं दे सकती? उनकी सुमति और प्रेरणा में रहते हुए हम उनके सखा-भाव को ही प्राप्त कर लेते हैं। देवों का सखा! ओह! यह कैसी स्पृहणीय, उदात्त उपलब्धि है।

यह जीवन देवताओं का ही दिया हुआ है, अतः उन्हीं की सेवा में इसे समर्पित भी होना चाहिये। आँखें दिव्यता की ओर चलें, कान भद्र का श्रवण करें, मन देवों के प्रकाश का वरण करे और बुद्धि देवयजन में प्रवृत्त हो, तो मानों हमने अपनी गो-रूप इन्द्रियों को सर्वाकर्षणकारी देवों की चरण-सेवा में लगा दिया। गोपियां और गौएं कृष्ण भगवान् की ओर आकर्षित होती थीं। हमारी इन्द्रियों का आकर्षण दिव्यता की ओर हो, केन्द्रस्थ देवाधिदेव कृष्ण की ओर हो, यही अभिवांछित है।

बाह्य इन्द्रियों के दो भाग हैं: ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। अन्तः-करण-चतुष्टय में बुद्धि विशुद्ध ज्ञान की साधिका है और चित्त जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के उपचय का, जो ज्ञानोपलब्धि में सहायता देता है। मन कर्मों का प्रेरक और अहंकार सबका संचालक है। इस प्रकार अन्तःकरण भी अपने चारों रूपों में प्रमुखतः ज्ञान और कर्म का ही साधक है।

ज्ञान और कर्म आत्मारूपी पक्षी के दो पंख हैं जिन्हें फड़फड़ाता हुआ यह सहस्रों वर्षों से इस ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहा है। ज्ञान और कर्म ही ऐसे अस्त्र हैं जिनसे यह राक्षसों का वध कर सकता है। इन्हीं के द्वारा यह सुकृतियों के लोक तक उड़ सकता है जहाँ इससे प्रथम पुरातन ऋषि पहुँचते रहे हैं।

गोपाल कृष्ण रूपी आत्मा के पास यही गौएं हैं। इसकी इन्द्रियाँ वस्तुतः उसकी शक्तियाँ हैं। गो का अर्थ इन्द्रिय लोक-प्रसिद्ध भी है, पर इन इन्द्रियों में साधारण गौओं से विशेषता यही है कि ये अपने इन्द्र का साथ कभी नहीं छोड़तीं। उनका गोपति आत्मा इन्द्रिय रूपी गौओं के साथ सदैव संयुक्त रहता है।

गोपालकृष्ण का यह आध्यात्मिक रूप है। उनका जो ऐतिहासिक रूप है, उससे इस आध्यात्मिकरूप की कई अंशों में भिन्नता है। इस भिन्नता का उल्लेख प्रारम्भ में केवल संकेतरूप में किया गया है। इन दो रूपों के अतिरिक्त इनका एक काल्पनिक रूप भी है जिसका वर्णन कविजन बार-बार करते रहे हैं। कल्पना में कई अनुभव एकत्र होकर नवीन रचना रचते हैं। इस रूप में कल्पना सामूहिक रूप से नहीं, अपने अंशों और अवयवों में सत्य होती है। कृष्ण का अर्थ आकर्षण करने वाला है। गोपालकृष्ण तो अपने आध्यात्मिक, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक तीनों ही रूपों में परम आकर्षणकारी है।



षड्गुण-सम्पत्ति

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का निर्माण करने वाली तम, रज और सत के परमाणुओं की सामग्री ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त है। एक एक अण्ड और पिण्ड में जो निर्मिति पाई जाती है, उसका भी कारण वही है। विश्व की त्रिगुण-राशि उसी में प्रतिष्ठित है। हमें तम पर पैर रखना है, रज को हाथ में लेना है और सत की प्रतिष्ठा शिर में करनी है। यह अनागस् बनने की प्रणाली है।

आगः क्या है? प्रकृति के दूषित अंश को अपनाना और परिणाम स्वरूप बार-बार जन्ममरण के चक्र में फँसना। अनागस् का अर्थ है मर्त्य से अमृत बनना। पूर्ण अनागस् तो परमदेव प्रभु ही हैं, पर जो प्राकृत पाशों के परित्याग का प्रयत्न करता है और अमृत स्वरूप एवं स्वभावतः अनागस् प्रभु की संगति एवं उपासना करता है, वह भी अनागस् बन जाता है। ऋग्वेद ३–१–१६ के अनुसार जो साधक प्रभु की शोभन प्रणीति या प्रणाली का अनुगमन करते हैं और उसके समीप अपना निवास बनाते हैं, उनके अन्दर निखिल सद्गुण-सम्पत्ति निहित हो जाती है, वे वीर्य एवं ऐश्वर्य से संयुक्त हो जाते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से वे तुजते हैं पर अध्यात्म दृष्टि से पुष्ट बनते हैं। प्रकृति का यह त्याग और प्रभु की संगति उन्हें इतना समर्थ बना देते हैं कि वे आक्रमण की इच्छा रखने वाले राक्षसों को दबा देते हैं। असुरत्व पर सुरत्व की विजय ही अनागस् बनना है।

अथर्ववेद २–११–१५ में लिखा है कि आत्मा शुद्ध (शुक्र) है, भ्राज अर्थात् तेजरूप है, स्वः अर्थात् सुखस्वरूप है और ज्योति है। उसमें इन्द्रत्व, वरुणत्व, मित्रत्व आदि सभी कुछ है। प्राकृतिक पाशों के

कारण वह अपने इस दिव्यरूप से पराङ्मुख हो जाता है। अपने रूप को पहिचानने के लिये प्रभु ही उसे उद्‌बोधन देते हैं। आत्मा सुपर्ण है, उड़ने वाला है। प्रकृति के आवरण उसे चारों ओर से ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह उड़ नहीं पाता। वह गौरवशाली है, पर प्रकृति का साथ उसे ओछा बनाता है। उद्‌बुद्ध होकर जब आत्मा प्रकृति या पृथिवी की पीठ पर बैठ जाता है, प्रकृति उसका वाहन बन जाती है, तो वह अपनी आभा से अन्तरिक्ष को ओतप्रोत कर देता है, ज्योति से द्यौ को ऊपर उठा देता है और तेज से दिशाओं को दृढ़ कर देता है।

विकास-दशा में आत्मा के अन्दर जिन सद्‌गुणों का संचार होता है, उनमें से प्रथम तेज है। तेज अग्नि का गुण है। प्रार्थना में इसी लिए कहा जाता है: 'मयि मेधां मयि प्रजां मयि अग्निस्तेजो दधातु' अग्नि मेरे अन्दर तेज की स्थापना करे। तेज आत्मा को लुभावने मोहक दृश्यों से बचाता है। आत्मा पतन के पथ से मुड़ता है, तो तेज के कारण। प्राण-पुञ्ज पुरुष की आग्नेयता के सम्मुख निम्नगा प्रवृत्ति तथा मूढ़ता हतप्रभ ही नहीं भस्म भी हो जाती है। जब तक यह तेज नहीं आता, तब तक प्रमाद पीछे पड़ा रहता है और मानव पद-पद पर लोभ, मोह एवं स्वार्थ का शिकार बनता रहता है। इनसे बचने का एकमात्र उपाय है—तेजस्वी बनना, अग्निदेव की शरण जाकर उनसे तेज प्राप्त करना। मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में इसीलिए सर्वप्रथम अग्निदेव आते हैं। वे प्राची दिशा के अधिपति हैं। उन्हीं की चिनगारियाँ प्रज्वलित होकर प्रकाश देती हैं जिससे अन्धकार में हमारी रक्षा होती है। पृथिवीस्थ प्राणियों के लिए अग्नि का ही सहारा है। सूर्यदेव कहीं बारह, कहीं दस और कहीं दो-तीन घण्टों के ही लिए प्रकाश देकर तिरोहित हो जाते हैं, कहीं कहीं छः-छः महीने तक उदय नहीं होते, पर अग्निदेव पृथ्वी पर सदैव हमारे साथ हैं। उनका तेज प्रदीप्त होकर

हमारी रक्षा करता है। यजुर्वेद १९–९ में प्रभु का सर्व प्रथम जो गुण हमारे सामने आता है, वह तेज ही है। प्रभु तेजरूप हैं, मेरे अन्दर भी वे तेज स्थापित करें। पाठक सोचेंगे कि तेज तो अग्नि का गुण है, वह प्रभु का गुण कैसे बन गया? इसके समाधान में हमें ध्यान रखना होगा कि यहाँ जो कुछ श्रीमत्, ऊर्जित तथा विभूतिमय है, वह प्रभु के तेजोंश से ही उत्पन्न हुआ है। उसीके प्रकाश से यहाँ सब प्रकाशित हैं। वह प्रकाशकों का भी प्रकाशक है। वह अग्नि, विद्युत्, सूर्य सभी का चक्षु है। ऋग्वेद १–१६४–४६ में इसीलिए उसे इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

तेज कैसे आता है? आग्नेयता के सम्पादन का क्या साधन है? मुखमण्डल पर आभा कब आती है? वाणी आदि इंद्रियों में तेज की उत्पत्ति कैसे होती है? इन प्रश्नों का उत्तर एक ही है। जब तक अन्दर से शक्ति का स्खलन होता रहेगा, आय के स्थान पर व्यय होता जायगा, तब तक न शरीर में कान्ति दिखाई देगी और न इन्द्रियों में तेज, और जब इस शक्ति के बाह्य प्रवाह या व्यय को रोक दिया जायगा, शक्ति का संचय किया जायगा, तभी वह आंतरिक शक्ति मुख की प्रदीप्ति और इन्द्रियों की बलवत्ता में झलकने लगेगी। यह शक्ति क्या है? उद्दालक ऋषि के अनुसार जो भोजन हम प्रतिदिन करते हैं, उसके तीन भाग हैं—पार्थिव, जलीय, आग्नेय। इन तीन के अतिरिक्त श्वास एवं प्रश्वास के साथ प्रतिपल वायु का पर्याप्त अंश अन्दर जाता रहता है। उपर्युक्त तीन भागों के भी तीन-तीन भाग हैं। पार्थिव तत्त्व का स्थूल एवं व्यर्थ भाग उत्सर्ग की इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके सूक्ष्म अंश से मांस बनता है और सूक्ष्मतम अंश से मन। जल का भी अनुपयोगी भाग प्रस्वेद, मूत्र आदि के द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके सूक्ष्म अंश से लहू और सूक्ष्मतम अंश से प्राण का निर्माण

होता है। आग्नेय तत्व के स्थूल अंश से हड्डियाँ, सूक्ष्म अंश से मेद और सूक्ष्मतम अंश से वाणी का निर्माण होता है।[1] चरक और सुश्रुत के अनुसार भोजन की जो सामग्री हमारे आमाशय में जाती है, वह प्रथम रस में परिणत होती है और उसका व्यर्थ का भाग बाहर निकल जाता है। रस के उपरान्त रक्त, फिर क्रमशः माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र की उत्पत्ति होती है। शुक्र भोजन का सारतत्व है। प्रकृति के तीन गुणों को लेकर भोजन की परिणति पर विचार करें तो उसका निकृष्ट तमोगुणी भाग बाहर निकल जाता है, उपयोगी तमोगुणी अंश से चर्म आदि का निर्माण होता है जो शरीर का आधार है। रजोगुणी अंश से लहू आदि बनते हैं। उसका अन्तिम सतोगुणी अंश शुक्र में दृष्टिगोचर होता है। सत्व का रङ्ग श्वेत है, शुक्र का भी रङ्ग श्वेत है। यही शुक्र शक्ति है।

जिसका शुक्र सुरक्षित है, उसके अङ्ग-अङ्ग में स्फूर्ति रहती है। उसकी इन्द्रियों में बलवत्ता एवं तेज का संचार होता है। वीर्य विरोधी शक्तियों का शरीर में साम्मुख्य एवं संहार करता है। शरीर और इंद्रियों की विशिष्ट गति का कारण वीर्य ही है। तेज का भी यही कारण है। मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में इन्द्र दक्षिण दिशा का अधिपति है। दक्षता तथा दाक्षिण्य इन्द्र की शक्ति का परिणाम है। ऋग्वेद १-८०-७ के अनुसार इन्द्र ही ऐसा तत्व है जिसका वीर्य किसी अन्य की देन नहीं है, जो स्वयं स्वभावतः वीर्यवान है। इन्द्र का वीर्य ही शरीर को बल, दृढ़ता तथा विचार-शक्ति देता है। सम्मुख उपस्थित भय का विध्वंस वीर्यवत्ता ही करती है। इन्द्रियाँ भोग-विलास के परिणाम-स्वरूप जब अशक्त हो जाती हैं, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, तब इन्द्रदेव ही अपने वीर्य से उस अशक्ति एवं अन्धकार का विनाश

---

१ छान्दोग्य—अध्याय ६।

करते हैं। प्रार्थना में इसीलिए कहा जाता है—'मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु'। शरीर में इन्द्रत्व इन्द्रियों की शक्ति ही है, जो वीर्य है। यही पितर है, संतति उत्पत्ति का कारण है और तिरश्चिराजी अर्थात् वक्रगति वाले, तिरछी चाल चलकर शरीर का विघटन करने वाले कीटाणुओं से हमारी रक्षा करता है। यजुर्वेद १९–९ में तेज के पश्चात् वीर्यवान बनने की ही प्रार्थना की गई है। इन्द्र का धात्वर्थ ऐश्वर्यवान है। वीर्यवत्ता ही ऐश्वर्य है। भागवतों ने ऐश्वर्य को कर्तृत्व-शक्ति माना है जिसका अर्थ पितर शब्द में सुरक्षित है।

प्रभु तेज है, वीर्य है और बल है। बल की कल्पना कई रूपों में की जाती है। धन बल है, क्षात्रशक्ति बल है तथा ब्राह्मी शक्ति ज्ञान भी बल है। क्षात्रशक्ति शारीरिक तथा यांत्रिक शक्ति पर अवलम्बित है और उसका उच्च रूप साम्राज्य में प्रदर्शित होता है। राजा अपने शासन में चारों वर्णों को नियन्त्रित रखता है। एक प्रकार से चारों वर्णों का बल उसके अधीन है। शूद्र की सेवा, वैश्य की सम्पत्ति तथा क्षत्रिय की निर्भय सामरिक शक्ति का तो वह उपयोग करता ही है, ब्राह्मण की पवित्र ज्ञान-शक्ति भी उसके अंकुश से पृथक नहीं हो पाती। आजकल के वैज्ञानिक अपने अनुसन्धान राज्यशक्ति की सहायता के बिना कर ही नहीं सकते। वे अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के क्रीत सेवक बने हुए हैं और शासन जैसा चाहता है, वैसा ही प्रयोग इन्हें अपने विज्ञान का करना पड़ता है। ज्ञान-शक्ति का यह अपमान है, पर इससे राजतन्त्र की बलवत्ता असंदिग्ध रूप से प्रकट हो रही है। वेद ने वरुण को राजा कहा है जिसके व्रतों और धर्मों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। दो व्यक्ति चाहे जितना छिपकर वार्तालाप करें, वरुण राजा सर्वत्र और सभी समय उपस्थित होकर उसे सुन लेते हैं। वरुण के दूत पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्यौ लोक तक विचरण करते हैं और इन्हें भी

अतिक्रान्त करके उपस्थित हैं। इन दूतों के पाशों से कोई बच नहीं सकता। वे सहस्राक्ष, हजारों आँखों वाले बनकर सबको देख रहे हैं। वरुण राजा का यह बल कितना महान है।

वरुणदेव का प्रभाव इतना व्यापक है कि वे समस्त प्रजाओं के अन्दर विद्यमान होकर अपना शासन-सूत्र चला रहे हैं। वे धृतव्रत हैं, शोभनकर्मा हैं। उनका अस्तित्व साम्राज्य के ही लिए है। (ऋग्वेद १–२५–१०) इन्द्र वीर्य है तो वरुण सहस्रवीर्य है। (अथर्व १९-४४-८) वरुण सुक्षत्र हैं। उनका सा बल अन्य किसी के भी पास नहीं है। अपने इसी बल के कारण वे वर्णन करने के योग्य और वरणीय हैं। उनका वारक वज्र मानव को पाप से हटाता है, प्रजा का अनिष्ट से निवारण करता है और बल देकर आत्मज्ञान कराता है। आत्मज्ञान से जो बल उपलब्ध होता है, उसकी समता किसी भी बल से नहीं की जा सकती। मनसा परिक्रमा में वरुणदेव प्रतीची दिशा के अधिपति हैं और विषैले प्राणियों से रक्षा करने वाले हैं। अन्न उनका बाण है। अन्न में बल है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। जिसमें जितना ही अधिक बल है, वह उतना ही अधिक विषरूप मारक शत्रु का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। इसीलिए प्रार्थना में कहा गया है—प्रभु! तुम बल रूप हो, मुझे भी बल प्रदान करो।

बल से भी ऊपर ओज का स्थान है। तेज शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है, तो ओज आत्मिक है। ओज शुक्र का भी छना हुआ सत है। वीर्य एवं बल से विहीन व्यक्ति ओज पाने के अधिकारी नहीं हैं। यह ओज आत्मा की ही शक्ति है, उमा है। आत्मा को इसी आधार पर सोम कहते हैं। सोम उमा के साथ सदैव रहते हैं। वे उत्तर की दिशा के अधिपति हैं। ओजस्वी व्यक्ति उत्तरायण पथ के पथिक बनते हैं। वीर्यवान पितर हैं, तो ओजस्वी देव हैं। एक चन्द्र-

लोक तक जाकर पुनः लौट आते हैं, तो दूसरे द्यौलोक के निवासी बनते हैं।

वीर्य विशेष रूप से इन्द्रिय जगत को प्रभावित करता है, पर ओज का क्षरण बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी इन्द्रियों की क्यारियों को सिंचित कर उन्हें हरीतिमा-आभा से मण्डित बनाता है और बुद्धि के उच्च से उच्च स्तर प्रज्ञा तक को पल्लवित करता है। ओज की जगमगाहट में कुटिलता ठहर नहीं पाती, सरलता खिलखिलाने लगती है तथा समग्र जीवन सत्य वाणी, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप से समन्वित हो जाता है। ऋ० ९-११३-२।

प्रभु का ओज शाश्वत है। वे निरन्तर रस से तृप्त हैं और अनवरत रस-वर्षा की धाराओं से इस ब्रह्माण्ड को जीवनदान दे रहे हैं। भक्तों का हृदय इसी रस को पाकर सरस बनता है। बल के उपरान्त साधक इसीलिए प्रभु से प्रार्थना करता है—प्रभु! तुम ओज रूप हो, मुझे भी अपने ओज से ओजस्वी बना दो। शारीरिक तेज के साथ मेरे अन्दर आत्मिक तेज भी प्रदीप्त हो।

आत्मिक तेज ही पाप को भस्म करता है। ओज के हाथ में ही वह वज्र चक्र रहता है जिससे स्वतः अपने आप, अकारण दूसरों से द्वेष करने वाले, अहम्मन्य व्यक्तियों का अहंकार चकनाचूर होता है। ओज ही मन्यु को उत्पन्न करने वाला है। मन्यु द्वारा मननपूर्वक, सोच समझ कर, पापीयसी प्रवृत्तियों का दमन तथा सत्प्रवृत्तियों का रक्षण किया जाता है। पौराणिकों ने इस प्रकार के मन्यु का समावेश विष्णु में किया है। विष्णु ध्रुव दिशा के अधिपति हैं। व्यक्ति और जाति की ध्रुवता अथवा स्थिरता विष्णुत्व से ही संभव है, जिससे असत का अपनयन और सत का संरक्षण होता रहता है। विष्णु ही वामन हैं,

ऐसा शतपथकार याज्ञवल्क्य कहते हैं। वामन बौना, अल्प, छोटा, एक इकाई है, तो विष्णु व्यापक, समग्र और महान हैं। एक व्यक्ति का वामनत्व विष्णु के गुणों को धारणकर अपने अन्दर निहित अन्याय, असत्य तथा अज्ञान का विध्वंस करता है, तो समग्र का विष्णुत्व समग्र में से अधर्म के कारण बढ़ती हुई धर्मग्लानि को दूर करता है। इसी प्रवृत्ति से दुष्कृतियों का विनाश तथा सज्जनों का परित्राण होता है। मंत्र में विष्णु को कल्माषग्रीवों से बचाने वाला कहा गया है। ये कल्माषग्रीव चित्र-विचित्र 'ग्रीवा वाले' अपनी माया से दूसरों को चकाचौंध में डाल कर ठगने वाले, बहुरूपिये, शोषक तथा व्यक्ति एवं समाज के शत्रु होते हैं। इनका दमन वीरुध द्वारा किया जाता है। वीरुध वनस्पति है जो जीवन के विरोधी तत्वों का विशेषतया अवरोध तथा पोषक तत्वों का पूर्णतया पोषण करती है। यह अपनी सेवा में आने वालों का पालन करती है। पुराणों के शब्दों में कहना चाहें, तो जो विष्णु की शरण में पहुँच गया, वह बच गया। रावण जैसे मायावी असुर का संहार विष्णु शक्ति के धनी राम द्वारा ही हुआ था।

यहाँ जिसने भी दानवता का दमन तथा मानवता का संत्राण किया, वही विष्णु शक्ति का धनी माना गया। मन्यु का भी यही गुण है। मन्यु साधारण भाषा में क्रोध का पर्यायवाची है, पर इसमें प्रलयंकर महाकाल का रुद्रत्व नहीं, राम का विष्णुत्व है।

मन्यु के उपरान्त प्रभु से सहन शक्ति की प्रार्थना की गई है। प्रभु स्वयं सह अर्थात् सब कुछ सहन करने वाले हैं, परमधीर हैं, तप की साक्षात् मूर्ति हैं। तपः द्वन्द्वसहनम्—तप द्वन्द्वों के सहन को कहते हैं। प्रभु तप ही नहीं, अभीद्ध तप हैं—ऐसा तप जो सतत जाज्वल्यमान रहता है, कभी विराम का नाम नहीं लेता। ऐसा ही तप पूर्ण सहन शक्ति को अपने गर्भ में रखता है। संसार सत एवं असत के द्वन्द्व से

समाक्रान्त है, पर प्रभु इस विराट द्वन्द्व को कैसे चुपचाप अपने गर्भ में लिए अविचल बैठे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ असत पनपता रहता है। प्रभु असत को बढ़ते हुए देखते रहते हैं, पर जैसे ही वह अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगता है, वैसे ही उसे तोड़ देते हैं। प्रभु के न्याय की चक्की शान्त गति से चलती रहती है जिसमें अन्यायी निश्चितरूप से पिस कर न्यायवान बनता है और न्याय की रक्षा होती रहती है। प्रभु सत एवं असत दोनों से परे हैं, इसी हेतु वे द्वन्द्व को सहन करते हुए सत का उद्धार तथा असत का दलन करने में समर्थ बने हुए हैं।

मनसा परिक्रमा में यह रूप बृहस्पति का है जो ऊर्ध्व दिशा के अधिपति हैं। जो सबसे ऊर्ध्व है, सबके ऊपर है, वही सब कुछ सहन कर सकता है। प्रभु बृहत से बृहत जगतों के अन्तर्यामी हो कर भी उनसे पृथक हैं। वे उनके पालक तथा द्रष्टा दोनों ही हैं। वे सबके अन्दर बैठे हुए, सबका संचालन कर रहे हैं और सबसे ऊपर, पृथक, अनासक्त हो कर न्याय-तुला पर सबको तौलते भी रहते हैं। सहः के ये दोनों अर्थ हैं। सहः सहनशीलता है, पर साथ ही सबसे बड़ी शक्ति भी है जिसके सामने प्रबल से प्रबल शक्तियों को झुकना पड़ता है। इस शक्ति की लहरें ओज की धाराओं से भी अधिक बलवती और व्यापक हैं। तेज-ओज आदि धारायें हैं, तो यह सहःसाक्षात् स्रोत है, वर्षा है जो आत्मा पर पड़े हुए अखिल आवरणों के कोढ़ को धोकर साफ कर देती है। सहः अभीद्ध तप के निकट का तप है, जो आत्मा का साथी बन कर उसे ऊर्ध्व लोकों में ले जाता है जहाँ जाकर फिर च्युति नहीं होती; एकरस, समरस, अनासक्त अवस्था बनी रहती है।

पवित्रंते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इत वहन्तः तत्समाशत॥ ऋ० ९-८३-१

बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति हैं। वे सबसे बड़े रक्षक हैं, सहः शक्ति के धनी हैं और परम पवित्र हैं। पाप की सेना उन पर आक्रमण नहीं कर सकती। उनकी पवित्रताकारिणी शक्तियाँ चारों ओर फैली हुई हैं। वे ब्रह्माण्ड के एक-एक गात्र को सब ओर से घेरे हुए हैं और पवित्र कर रही हैं। व्यक्ति के अन्दर सहः शक्ति को धारण करके आत्मा इतना पवित्र हो जाता है कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, तीनों शरीरों के एक-एक अवयव को अपनी प्रभविष्णु पवित्र शक्तियों द्वारा पवित्र कर देता है। जिसने तप नहीं तपा, तप की भट्ठी में डाल कर अपने को कुन्दन नहीं बना लिया, वह कच्चा है, पका नहीं। सहः शक्ति का सम्पादन तपस्या के बिना सम्भव नहीं है। पके हुए, तपस्या से कुन्दन बने हुए, सहन शक्ति के धनी साधक ही पवित्र बनते हैं और अपनी पवित्रता से अपने चतुर्दिक वर्तमान वायुमण्डल तथा अपने संपर्क में आने वालों को पवित्र करते रहते हैं।

भगवान के ये छः गुण—तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहः एक-दूसरे के पूरक हैं और प्रभु की उपासना करने वाले, उनकी समीपता में रहने वाले साधकों को भी प्राप्त हो जाते हैं। संध्या के मनसा परिक्रमा वाले मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु और बृहस्पति के रूपों में क्रमशः यही अभिव्यक्त हुए हैं—ऐसा उपर्युक्त पंक्तियों में विचार किया गया है। भागवतों ने भी भगवान के छः ऐश्वर्य या गुण माने हैं। उनकी गणना दो स्थानों पर दो प्रकार की है। अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय २ में लिखा है कि परब्रह्म प्राकृतिक गुणों से हीन होने पर भी अपने षड्गुणों से युक्त हैं। वह ज्ञान, शक्ति, कर्तृत्व (ऐश्वर्य) बल, वीर्य और तेज से मण्डित हैं। वह वस्तुतः ज्ञानमय हैं। उनके पाँच अन्य गुण ज्ञान के ही विशेषण हैं। पुनः अध्याय पाँच में लिखा है कि ब्रह्म के ज्ञान और बल से संकर्षण का, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का

तथा शक्ति और तेज से अनिरुद्ध का जन्म हुआ है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रचना-विकास में संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन तथा अनिरुद्ध अहंकार हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार ये छः गुण इस प्रकार हैं:-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग इतीरणा॥ ३-३१-३३

ऐश्वर्य नियंत्रण और कर्तृत्व का सामर्थ्य है। वीर्य विरोधनिरसन की शक्ति है। यश सार्वत्रिक कल्याण-गुण-प्रथा का नाम है। श्री अक्षय-समृद्धिमत्व की क्षमता है। ज्ञान सबका प्रत्यक्षीकरण है। वैराग्य अवाप्त-समस्त-कामत्व है।

इन दो प्रकारों में ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य समान हैं। बल, शक्ति और तेज के स्थान पर यश, श्री और वैराग्य हैं। वैदिक प्रार्थना के तेज, वीर्य और बल अहिर्बुध्न्य संहिता में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। ओज में शक्ति का अन्तर्भाव किया जा सकता है। मन्यु में मन या मति सम्मिलित है। सहः में सहन शक्ति है जो ऐश्वर्य के साथ निवास कर सकती है। इन प्रकारों के पूर्ण साम्य-स्थापन में कुछ कठिनता अवश्य आती है, पर दूसरे प्रकार में भगवान के भग शब्द को लेकर जो छः विभाग किये गये हैं, वे वैदिक प्रार्थना के क्रम से ज्यों के त्यों मिलते हैं। वेद का तेज ही श्रीमद्भागवत का ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य ईश्वरत्व है और तेजस्वियों के तेज में ईश्वरत्व ही बसता है। वीर्य के स्थान पर वीर्य है। बल के स्थान पर यश है। यश बल का साथी है और क्षात्र शक्ति के साथ रहता है। संध्या का अंगन्यास दोनों के युग्म को लेकर चला है और बाहुओं के साथ दोनों को संबद्ध करता है। ओज के स्थान पर श्री है। ओज से ही श्री, शोभा, दीप्ति आदि की उत्पत्ति है। यह श्री ओज की ही भाँति आत्मा में ही आश्रय पाने वाली

मूल शक्ति है। मन्यु के स्थान पर ज्ञान और सहः के स्थान पर वैराग्य है। मन्यु में ज्ञान सम्मिलित है। क्रोध में ज्ञान नहीं रहता, पर जब हम ज्ञानपूर्वक अपने पापों को हटाते और अपने अन्तः आक्रोश को मनन के साथ अभिव्यक्त करते हैं, तो वह मन्यु कहलाता है। वैराग्य सहनशक्ति का निधान है। जो अवाप्त काम है, कामनाओं से विरक्त होकर तृप्तसमस्तकाम बन चुका है, वही सब कुछ सहन कर सकता है।

वेद और भागवत में भगवान के गुणों का यह साम्य ध्यान देने योग्य है। हमारे ऋषियों का चिन्तन अन्दर से बाहर और बाहर से अन्दर जिस व्यवस्था और पूर्णता के साथ चला है, श्रुत से अनुमान और अनुमान से प्रज्ञा तक अथवा आग्नेय तेज से आत्मिक तेज तक पहुँचा है और फिर लौटकर आत्मा से ही सबके उद्भव का प्रतिपादन करता है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। पश्चिम में दर्शन और विज्ञान का जो विकास हुआ है, वह भी अद्भुत है और अपनी उपलब्धियों में हमारे आर्ष दर्शन के निकट संभवतः पहुँच जायगा, ऐसा उसकी प्रगति को देखकर विश्वास होता है।



वैदिक कहानियाँ

वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभी विद्वानों का अभिमत ऐसा ही है। वेद-विश्वासी आस्तिक आर्यों की बुद्धि ने इस साहित्य को ज्ञान विज्ञान के मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। प्राचीनतम भाषा में लिखा होने के कारण यह साहित्य परवर्ती विद्वानों के लिए अनेक स्थानों पर दुरूह सा बना रहा। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने का प्रयास मिलता है। उपनिषदों के ऋषि भी इसी दशा में संलग्न हुए हैं; परन्तु काल का अतिपात उन्हें वैदिक ऋषियों की अनुभूति से सम्भवतः तद्रूप नहीं कर सका। फिर भी वे वैदिक ऋषियों के साक्षात् के निकट पहुँच सके हैं, ऐसा मानने में किसी भी आलोचक को आपत्ति नहीं हो सकती। आधुनिक भाष्य-कर्ता सायण, महीधर आदि इस अनुभूति से बहुत दूर थे। निकट पहुँचने के लिए जिस तपश्चर्या की आवश्यकता होती है, उसका उपादान भी ये विद्वान् नहीं कर सके, अतः वैदिक साहित्य की अनेक बातें या तो रहस्यमय अन्धकार में आच्छन्न रहीं, अथवा भ्रान्त रूप में जनता के समक्ष उपस्थित की गईं। उदाहरण के लिए हम तथाकथित वैदिक कहानियों पर विचार करते हैं।

पौराणिक साहित्य में प्रजापति ब्रह्मा और उसकी पुत्री सरस्वती की कथा आती है। इसी प्रकार गौतम-अहल्या, इन्द्र-वृत्र तथा और असुरों की भी कथाएँ आती हैं। इन कथाओं के बीज वैदिक साहित्यमें उपलब्ध होते हैं। पर ये बीज केवल बीजहैं, कहानी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं हैं। कहानियों के बीजों के साथ-साथ वेद में कतिपय ऐसे नाम भी आते हैं,

जो ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम हैं। इक्ष्वाकु, पुरूरवस्, बुध, चन्द्र, अत्रि, आयु, नहुष, ययाति, यदु, पुरु, ब्रह्म, अनु, शान्तनु आदि ऐसे ही नाम हैं। वेद के इन नामों को देखकर—ऐतिहासिक (प्राचीन तथा नवीन) यही कहते रहे हैं कि वेद में इतिहास है और उसकी सहायता से हम तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी मान्यता पुराकाल[१] में भी रही है, परन्तु उसका प्रतिपक्षी दल अधिक प्रबल रहा है, जिसने न वेद में इतिहास माना है और न कहानियों का बीजाङ्कुर।

ऋग्वेद १–१६४–३३ में 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' तथा ३–३१–१ में 'पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्' पद आते हैं। इन्हीं के आधार पर ब्रह्मा और सरस्वती वाला कथानक पुराण साहित्य की कहानी का रूप धारण करता है। ऋग्वेद १०–११–६ आए हुए 'जार आ भगम्' पद को आधार मानकर गौतम अहल्या की कथा निर्मित हुई। यजुर्वेद २३–१८ में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को सम्बोधन करके सुभद्रिका को नमस्कार करने के लिए कहा गया है, जो काम्पिल्यवासिनी है। ये केवल थोड़े से संकेत हैं, जो वेद में कहानी के रूप को प्रकट करने वाले हैं। परन्तु क्या हम इन्हें कहानियों अथवा इतिहास की घटनाओं का पूर्वरूप कह सकते हैं ? निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में इस स्थापना का खण्डन किया है।

पुराण साहित्य अवश्य लम्बी-चौड़ी कहानियों से भरा पड़ा है। उसमें ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है। परंतु यह साहित्य भी अपने रचयिता के ही शब्दों में आम्नाय अर्थात् वेद के अर्थ को प्रदर्शित

---

१ "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिभर्वत्याख्यानसंयुक्ता" निरु० १०।१०

करने के लिए ही निर्मित हुआ था। जिस प्रकार का आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, उसी प्रकार का अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में, पुराणों में है। जैसे आज की कहानी का काल्पनिक कथानक उद्देश्यविशेष से गर्भित रहता है, वैसे ही पुराण काल में भी रहता था। वेद में अहल्या रात्रि है, गौतम चंद्र है और सूर्य ने इन्द्र का रूप धारण किया है। इन्द्र सूर्य है तो वृत्र मेघ है। पिता सूर्य है तो दुहिता उषा है। इसी प्रकार रूपक अलङ्कार के द्वारा वेद ने प्राकृतिक जगत् की घटनाओं को समझाया है। पुराण साहित्य ने इन्हीं रूपकों को बृहदाकार बनाकर प्राकृतिक तथा मानव जगत् की घटनाओं पर प्रकाश डाला है।

ऋग्वेद २।१२।२ में इन्द्र का वर्णन आता है। इस इन्द्र ने अपने क्रतु से देवताओं को विभूषित किया। जिसके बल से द्यावा और पृथ्वी काँपने लगे, जिसने काँपती हुई पृथ्वीको दृढ़ किया, जिसने प्रकुपित पर्वतों को रममाण बना दिया, जिसने अन्तरिक्ष को नाप लिया, जिसने दिव् को स्थिरकिया है, जिसने अहिको मारकर सप्त सिन्धुओंको उन्मुक्त किया, जिसने दो पत्थरों के बीच में अग्नि को उत्पन्न किया, जिसने इन समस्त विनश्वर पदार्थों को जन्म दिया है, जिसने दस्यु, हिंसक वर्ण को नीचे गुहा में (अन्तर्हित) कर दिया है, जो शत्रु की पुष्टि को जीतने वाला है और कभी-कभी भूकम्प के समान उसे विनष्ट कर देता है, जिसके भयङ्कर रूप को अनुभव करके, कभी-कभी मर्यादा का भङ्ग करने वाले पूछ बैठते हैं, 'वह कहाँ है ?' कभी उसके अस्तित्व का निषेध भी करते हैं, वह इन्द्र है। दूसरी ओर जो कृश हैं अर्थात् दीन-हीन हैं, परन्तु ज्ञान में निरत होकर उस परमदेव के चरणों के उपासक बने हुए हैं, उनकी वह रक्षा भी करता है। देखने में ऊपर की बातें इन्द्र सम्बन्धी किसी कहानी का अङ्ग जान पड़ती हैं; पर यह क्या कोई कहानी है ?

निरुक्तकार यास्क के समय में और उसके पूर्व भी कुछ ऐसे विद्वान् अवश्य थे, जिनका संकेत यास्क ने 'इति ऐतिहासिकाः' लिखकर किया है और जो वेद में ऐसे ही शब्दों को देखकर इन्द्र आदि के जीवन वृत्त की कल्पना किया करते थे।

कहानी साहित्य की एक दिशा है, जिसके द्वारा साहित्यिक या तो कोई उपदेश देना चाहता है, या ज्ञान के किसी प्रत्यय का अभिव्यञ्जन करना चाहता है। इसी को पौराणिक शैली भी कहते हैं। परन्तु हमने ऊपर ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के १२वें सूक्त से जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, वे कहानी के सम्पूर्ण रूप को प्रकट नहीं करतीं। इन पृथक् २ पंक्तियों में इन्द्र भी कोई व्यक्ति[1] विशेष नहीं है। इन्द्र से तात्पर्य इन्द्रियों के अधिपति इन्द्र अर्थात् आत्मा और देवाधिदेव परमात्मा से है। आत्मा का क्षेत्र शरीर है, परन्तु परमात्मा का क्षेत्र निखिल ब्रह्माण्ड। ऊपर की पंक्तियाँ इन दोनों क्षेत्रों का ज्ञान कराती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी शैली का अनुकरण किया है और इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों पर प्रकाश डाला है[2]। वेद में यदि ऊपर के कथनों को [कहानी का अङ्ग स्वीकार करें, तो जो सम्बद्धता कहानी के अङ्गों में रहती है, वह हमें ऊपर के कथनों में दिखाई नहीं देगी। ऊपर के कथन पृथक्-पृथक् तथ्यों के रूप में है :— जैसे इन्द्र द्वारा देवताओं को शक्ति-सम्पन्न करना, व्यथित पृथ्वी को दृढ़ बनाना, अहि को मारकर सप्त सिन्धुओं को उन्मुक्त करना आदि। इनमें से

---

१ इसके लिये देखें ऋ० १।७९।३ में 'अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी०' में इन्द्रतमा में आतिशायिक तमप् प्रत्यय इन्द्र को विशेषण सिद्ध करता है।

२ शतपथ ब्राह्मण ११-३-३३ में उर्वशी और पुरूरवा की कथा है।

एक-एक कथन एक-एक तथ्य को प्रकट करता है और उन सब में कहानी जैसा कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। प्रथम कथन में आत्मस्वरूप का वर्णन है। मानव जब आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसके अन्दर बल का सञ्चार होता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में जो इन्द्रियाँ निस्तेज पड़ी रहती हैं, वे आत्मज्ञान के समय तेजस्विनी बन जाती हैं। द्वितीय उक्ति विज्ञान के क्षेत्र से सम्बद्ध है। सृष्टि के आरम्भ में जो पृथ्वी तरल अवस्था में काँपती हुई सी प्रतीत होती थी, प्राकृतिक नियमों में आबद्ध होकर वही कालान्तर में दृढ़ अर्थात् ठोस हो गई। तीसरा कथन पुनः आत्मज्ञान से सम्बद्ध है, जिसमें अहि माया है और सप्तसिन्धु सात ऋषियों के रूप में ज्ञान के सप्त प्रवाह हैं। ज्ञान के इन प्रवाहों को रोकने वाली माया है। विषय-विकार माया के ही रूप हैं। जब ये दूर हो जाते हैं, तो ज्ञान के सातों प्रवाह प्रवाहित होने लगते है। इसी प्रकार इन्द्र के सम्बन्ध में जो अन्य बातें कही गई हैं, वे ज्ञान के पृथक्-पृथक् प्रत्ययों पर प्रकाश डालती हैं। पाँचवा मंत्र परमात्मा की सत्ता का उद्घोष करने वाला है। वही छठे मन्त्र में सद्गुणों को धारण करने वाले कृश एवं प्रपन्न भक्त का रक्षक है। नवें मन्त्र में कहा गया है कि मानव इसी परमेश्वर की सहायता से अपने अभियानों में सफलता प्राप्त करता है। अपने को अच्युत समझने वाले प्रभु की शक्ति के सामने च्युत हो जाते हैं। ग्यारहवें मन्त्र में कहा गया है कि जो शम्बर अर्थात् शान्ति को आवृत या आच्छादित करनेवाला आसुरी भाव पर्वतों में, नाड़ियों के ऊर्ध्व भागों में निवास कर रहा था, उसे आत्म-शक्ति का उदय ही नष्ट करने में समर्थ होता है। मानव को उसके लिए साधना करनी पड़ती है। यह एक दिन का नहीं, वर्षों की साधना का काम है। मन्त्र में आए हुए ४० वर्षों का सङ्केत इसी ओर है। वैसे आदित्य

ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य-काल लगभग ४० वर्षों का ही है। यह ब्रह्मचर्य रूपी तप भी मायावृत द्वारों को खोलने वाला है। जो दानव, जो अहि, आराम से सोया करता है, उसका विनाश इसी तप-रूप शक्ति के द्वारा होता है।

जो बातें हमने इस इन्द्रसूक्त के सम्बन्ध में लिखी हैं, वही अन्य सूक्तों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। इन सूक्तों में वर्तमान कहानी का कोई रूप नहीं है, केवल कहानी के कलेवर की विभिन्न दशाओं का सङ्केत मात्र है। आज की कहानी यथार्थवाद की भित्ति पर खड़ी होकर भी काल्पनिक रहती है। प्रेमचन्द्र जी के सूरदास या मालती यथार्थ प्रतीत होते हुए भी किसी स्थान विशेष के विशिष्ट व्यक्ति नहीं हैं। उसी प्रकार वेद के इक्ष्वाकु, आयु, त्रिशङ्कु, नहुष आदि ऐतिहासिक न होकर प्रतीक मात्र हैं जो कहीं अन्तरिक्ष-स्थानीय नक्षत्रों की गतिविधि बतलाते हैं और कहीं ओषधि आदि के गुणों का उल्लेख करते हैं। वेद में आए हुए कतिपय नाम भी राजाओं के नाम नहीं है। शान्तनु, अर्जुन, कृष्ण, राधा, सहदेव आदि नामों को देखकर हमें उन पर महाभारत-कालीन व्यक्ति-विशेष का आरोप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेद और उनके शब्द महाभारत-कालीन व्यक्तियों से भी पूर्व के हैं[१]। महाभारत आदि के साक्ष्य इस तथ्य को असंदिग्ध रूप में उपस्थित कर रहे हैं। पर

---

१ ("देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकम्, पुरोहितः—पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्—एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः।···औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यान-समयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्"। (निरु० २।१२ स्कन्द टीका० पृ० ७७–७८)।

इसमें सन्देह नहीं कि वेद के रूपकों के आधार पर ही पौराणिक कथा साहित्य का निर्माण हुआ है और उसकी वही दिशा है, जो आज के कहानी साहित्य की है। मनु के वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे, श्लोकार्ध का मन्तव्य इसी तथ्य का समर्थन करता है। अतः वैदिक साहित्य में आई हुई कहानी, कहानी नहीं है। वह कहानी का बीजमात्र है और सोद्देश्य है। पौराणिक कहानी उसी का बृहत् रूप है। पञ्चतन्त्र में विकसित होती हुई वही हमारी आज की आदर्श कहानी बनी हुई है॥

पौराणिक कहानियाँ भी अधिकांशतः प्रतीक मात्र हैं। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में दक्ष प्रजापति, कश्यप आदि की जो कहानियाँ हैं वे ब्रह्माण्डीय सौरचक्र, कक्षावृत्त, राशियाँ, रश्मियाँ, उनका अन्योन्य प्रभाव आदि की महिमा को अभिव्यक्त करने वाली हैं। 'भक्ति का विकास' नाम के ग्रन्थ में हमने अवतारवाद का जो विवेचन किया है, उसमें कई पौराणिक कहानियों को शतपथ ब्राह्मण में अंकित प्रतीकों का उपबृंहण मान कर ब्रह्माण्ड के स्वरूप की अथवा उसकी रचना की व्यंजन प्रणाली के रूप में उपन्यस्त किया है। लौकिक प्रतीत होती हुई कहानियाँ इस प्रकार सूक्ष्म आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक तथ्यों पर वैसे ही प्रकाश डालती हैं जैसे आजकल की कहानियाँ, जिनके न तो पात्र ही ऐतिहासिक हैं और न घटनायें ही।

हिन्दी वैदिक व्याकरण

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षाओं के पाठ्यक्रमानुसार नवनिर्मित पुस्तक में वेद का सुबोध व्याकरण, स्वरचिह्न, पद-पाठ आदि के वि समाधान तथा क्रियारूपों का कोश भी प्रकाशित किया गया है। २

वैदिक सूक्त-मंजरी

(VEDIC-SELECTIONS)

पदपाठ, समन्वय, भाषार्थ, ऋज्वर्थ, निरुक्त, व्याकरण, हिन्दी-व्याख्या सहित। विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक में तथा शुक्लयजुर्वेद के महत्त्वपूर्ण कुछ सूक्त संकलित हैं।

वैदिक आख्यान

डॉ० गङ्गासागर राय

इस पुस्तक में जीवन को सुगठित एवं समुन्नत बनानेवाले प्रेर वैदिक आख्यानों का गुम्फन इतनी सरल भाषा एवं शैली में किया गया एक ही बैठक में बिना पुस्तक समाप्त किए जी नहीं मानता

वैदिक माइथोलोजी

(वैदिक पुराकथाशास्त्र) ए० ए० मैकडॉनल (हिन्दी रूपान्तर)

अनुवादक—डॉ० रामकुमार राय

यह ग्रन्थ वेद की आत्मा का भासमान प्रदीप है। वैदिक देवता रहस्य जानना यदि अभीष्ट हो तो इस ग्रन्थरत्न को अवश्य लाभ उठाइये।

वैदिक इण्डेक्स

मैकडौनेल और कीथ विरचित। (हिन्दी रूपान्तर)

अनुवादक—डॉ० रामकुमार राय

इस अनुवाद में मूल की सभी विशेषता सुरक्षित है, साथ ही अनुवाद भारतीय पाठकों के लिए सर्वथा उपयोगी बनाया गया है। अ की भाषा इतनी प्रौढ़ और प्राञ्जल है कि उसे पढ़ने से ग्रन्थ बिल्कुल मूल ही प्रतीत होता है। १–२ भाग सम्पूर्ण ४०

प्राप्तिस्थान—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१

